विवेक-ज्योति

वर्ष ३८, अंक १२ दिसम्बर २००० मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर, २०००

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३८
अंक १२

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – ७००/-

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(सोलहवीं तालिका)

६००. श्री आर. पी. सिंह, तराना, उज्जैन (म.प्र.)
६०१. श्री रामस्वरूप ताम्रकार, छतरपुर (म.प्र.)
६०२. श्री एच. आर. कुटारे, कसडोल, रायपुर (म.प्र.)
६०३. श्री परमेश्वर पटेल, नाडियाड (गुजरात)
६०४. श्री दास मोटवानी, जी स्कीम इन्दौर (म.प्र.)
६०५. श्री बी. पी. अग्रवाल, महात्मा गाँधी रोड, कलकत्ता
६०६. श्रीमती विनोद साहनी, देहरादून (उ.प्र.)
६०७. डॉ. मिथिलेश कुमार गुप्ता, धन्तोली, नागपुर (महा.)
६०८. श्रीमती वीना अग्रवाल, सुखदेव विहार, नई दिल्ली
६०९. श्रीमती सरिता चौधरी, अशोक रोड, कलकत्ता
६१०. श्री आनन्द कुमार पुराणिक, सुदामानगर, इन्दौर (म.प्र.)
६११. रामकृष्ण विवेकानन्द विद्यापीठ, बिजूरी, शहडोल (म.प्र.)
६१२. भूमा कार्यालय, बनग्राम, बर्दवान (पं. बंगाल)
६१३. डॉ. निमाई प्रत्यानिक, महानगर, लखनऊ (उ.प्र.)
६१४. श्री जगदीश प्रसाद मुंदड़ा, अलीपुर रोड, कलकत्ता
६१५. श्री शिवशंकर सुकदेव पाटिल, शेगाँव, बुलढाणा (महा.)
६१६. श्री रामऔतार सिंहल, बिलासपुर, रामपुर (उ.प्र.)
६१७. मण्डावा नि. प्रा. लि. आशुतोष मुकर्जी रोड, कलकत्ता
६१८. श्री अनन्त राम यदु, पुरानी बस्ती, रायपुर (म.प्र.)
६१९. श्री जयचन्द यादव, जोरापारा, रायपुर (म.प्र.)
६२०. श्री अश्विनी कुमार, कर्जन रोड, देहरादून (उ.प्र.)
६२१. डॉ. पी. जे. भारती, गाँधीनगर, अकोला (महा.)
६२२. श्री बलवंत सिंह, विष्णुपुरी, कानपुर (उ.प्र.)
६२३. श्री सन्तोष कुमार चमड़िया, रीवा (म.प्र.)
६२४. श्री पी. एच. पाठक, लैंडी ले आउट, बुलढाणा (महा.)
६२५. श्री श्याम सुन्दर परसरामपुरिया, रायपुर (म.प्र.)
६२६. श्री एस. पी. राय, विश्रामपुर, सरगूजा (म.प्र.)
६२७. श्री महेश सिंह ठाकुर, खैरागढ़, राजनांदगाँव (म.प्र.)
६२८. श्री जनार्दन प्रसाद गुप्ता, लखौली, रायपुर (म.प्र.)
६२९. श्री पी. एल. साहू, लखौली, रायपुर (म.प्र.)
६३०. श्री चतुर्भुज दास, स्टेशन रोड, भन्डुप, मुम्बई (महा.)
६३१. श्रीमती दीपा सोनी, बलौदा बाजार, रायपुर (म.प्र.)
६३२. प्रो. के. एन. पर्वत, इ. एम. बाइपास, कलकत्ता
६३३. श्री चन्द्र कुमार तन्वानी, चौक, पंडरी, रायपुर (म.प्र.)
६३४. श्रीमती कमल मुकर्जी, रिसाली, भिलाई, दुर्ग (म.प्र.)
६३५. श्री प्रेम प्रकाश शर्मा, नेहरू नगर, गाजियाबाद (उ.प्र.)
६३६. विवेकानन्द विद्यापीठ, इरकभट्टी, नारायणपुर (म.प्र.)
६३७. विवेकानन्द विद्यापीठ, रा. मि. आ., नारायणपुर (म.प्र.)
६३८. विवेकानन्द विद्यापीठ, ग्रा. कुतुल., नारायणपुर (म.प्र.)
६३९. विवेकानन्द विद्यापीठ, आकाबेड़ा, नारायणपुर (म.प्र.)

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व की उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनर्प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक रू. ३/- का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें -

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, सस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(६) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख जरूर करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

नमीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर श्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, यरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के ये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क त्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल ससाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यन्त्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

फोन ४१३ ३६९

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगंज,
इलाहाबाद - २११ ००३

रामनवमी, १२ अप्रैल २०००

पूर्ण कुम्भ मेला शिविर - २०००

एक अपील

प्रिय मित्र,

प्रयागराज का कुम्भमेला विश्व के सबसे बड़े धार्मिक उत्सव के रूप में प्रसिद्ध है। सहस्राब्दी का प्रथम पूर्ण कुम्भ मेला यहाँ ९ जनवरी से ८ फरवरी, २००१ तक सम्पन्न होने जा रहा है। इस महान् अवसर पर देश के सभी भागों एव विदेश से डेढ़ करोड़ से भी अधिक तीर्थयात्रियों और साधु-सन्यासियों के भाग लेने की आशा है।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम प्रयाग, पूर्व वर्षों की भाँति मेलाभूमि पर धर्म और अध्यात्म के प्रचार के लिए तथा साधुओं, तीर्थयात्रियों और कल्पवासियों को निःशुल्क चिकित्सा-सुविधा उपलब्ध कराने के लिए एक शिविर खोलने जा रहा है। शिविर की मुख्य गतिविधियाँ इस प्रकार होंगी --

(१) साधुओं, कल्पवासियों तथा यात्रियों को **निःशुल्क चिकित्सा** प्रदान करने के लिए आधुनिक दवाइयों से युक्त तथा सुयोग्य डॉक्टरों, कम्पाउण्डरों और चिकित्सा कर्मियों द्वारा संचालित एक **एलोपैथिक और होमियोपैथिक** क्लिनिक तथा एक प्राथमिक चिकित्सा-केन्द्र, जिसमें एक्यूपचर चिकित्सा की भी सुविधा रहेगी। (प्रतिदिन रोगियों की अनुमानित सख्या १५००)।

(२) एक **मन्दिर और सत्संग पंडाल** जहाँ प्रतिदिन भजन और प्रवचन के कार्यक्रम होंगे तथा जहाँ संत-सम्मेलन, वेदान्त-सम्मेलन, भक्त-सम्मेलन और युवा सम्मेलन का आयोजन किया जायेगा।

(३) श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के विचारों तथा आदर्शों और वेदान्त-साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए एक **पुस्तक-विक्रय-केन्द्र**, जहाँ हिन्दी, अंग्रेजी तथा बंगाली में साहित्य उपलब्ध रहेगा।

(४) एक **चित्रमय प्रदर्शनी** जो श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन और उपदेशों को तथा भारत में वैदिक काल से लेकर अब तक धर्म और सस्कृति के क्रमशः उत्थान को दर्शायेगी। पूरे शिविर का अनुमानित खर्च ६०,००,०००/- (साठ लाख रु०) है। इसलिए सेवाश्रम उदारमना जनता से इस उत्तम लोकोपकारी कार्य में सहायता के लिए अपील करता है। नगद, चेक तथा ड्राफ्ट द्वारा प्राप्त आपका दान सधन्यवाद गृहीत होगा।

(५) चेक तथा ड्राफ्ट "**A/C Payee only**" से रेखित और "**रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद**" के नाम पर काटा जाना चाहिए और इसे यदि रजिस्टर्ड डाक से भेजा जाय तो अधिक श्रेयस्कर होगा।

धन्यवाद सहित,

प्रभु सेवा में आपका
स्वामी निखिलात्मानन्द
सचिव

---

१. रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम को दिया गया दान इन्कम टैक्स ऐक्ट १९६१ की धारा ८० जी के अधीन आयकर से मुक्त है।

२. महत्वपूर्ण स्नान के दिन हैं - ८ जनवरी (पौष पूर्णिमा) १४ जनवरी (मकर सक्रांति) २४ जनवरी (मौनी अमावस्या), २८ जनवरी (वसन्त पंचमी) और ८ फरवरी (माघ पूर्णिमा)।

३. जो लोग कुम्भ मेला के अवसर पर हमारे परिसर में भोजन एवं आवास की सुविधा चाहते हैं, उन्हें १५ नवम्बर तक अग्रिम भुगतान के साथ, एक निर्दिष्ट फार्म पर आवेदन करके अपना स्थान आरक्षित करा लेना चाहिए। आवेदन पत्र तथा विशेष जानकारी के लिए उपरोक्त पते पर शीघ्र लिखने की कृपा करें।

नीति-शतकम्

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिषति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ।।२३।।

अन्वयः – धियः जाड्यं हरति, वाचि सत्यं सिञ्चति, मानोन्नतिं दिशति, पापम् अपाकरोति, चेतः प्रसादयति, दिक्षु कीर्तिं तनोति । कथय, सत्संगतिः पुंसां किं न करोति ।

भावार्थ – सत्संगति बुद्धि की जड़ता का नाश करती है, वाणी को सत्य से सींचती है, मान-सम्मान में वृद्धि करती है, पापों का नाश करती है, चित्त में प्रसन्नता का संचार करती है, सभी दिशाओं में यश का विस्तार करती है; बताओ, यह मनुष्यों के लिए क्या नहीं करती? अर्थात् सब कुछ का सम्पादन करती है ।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ।।२४।।

अन्वयः – ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः जयन्ति, येषां यशःकाये जरामरणजं भयं न अस्ति ।

भावार्थ – वे पुण्यवान रससिद्ध महाकवि धन्य हैं, जिनकी कीर्तिरूपी काया को वार्धक्य या मृत्यु का भय नहीं रहता ।

– भर्तृहरि

सारदा-वन्दना

– १ –

(भैरवी-तेवरा)

जगत जननी सारदे, मैं द्वार तेरी आ गया।
भार देता हूँ तुझी को, कर जरा मुझ पर दया।।

धूल-कीचड़ में लिपटकर, हो गया अपवित्र हूँ,
अब मुझे धो-पोछकर, कर ले स्वयं ही शुद्ध तू,
गोद में बैठालकर, दिखला मुझे जीवन नया।।

अब न जाऊँगा कभी, फिर खेलने संसार में,
है कहीं आनन्द तो, वह तेरे निर्मल प्यार में,
मैं रहूँगा पास तेरे ही, सतत कृतकृत हुआ।।

– २ –

(भैरवी-कहरवा)

अगर सुख-शान्ति से जीना, तुम्हें हो और चाहो मान,
तो माँ का मंत्र यह अनुपम, सुनो देकर जरा-सा ध्यान।

प्रभो ही व्याप्त हैं सबमें, नहीं कोई पराया है,
किसी के दोष मत देखो, जगत् उनसे ही आया है।।

स्वयं की ओर ही देखो, कहो निर्दोष क्या हम हैं।
नजर हो दूसरों पर क्यों, हमारे दोष क्या कम हैं।।

किसी के दोष देखो तो, स्वयं पर पाप चढ़ते हैं,
अगर गुणगान करते हो, तो अपने पुण्य बढ़ते हैं।।

दुखी अपना ही चित होगा, जो तुम चर्चा करो पर की,
मगर आनन्द पाओगे, लखो अच्छाइयाँ सबकी।।

जहाँ में जो भी है सब कुछ, बदलता जा रहा नश्वर,
सभी दुख-व्याधि से पीड़ित, बनो हमदर्द सेवा कर।।

सभी को पूर्व कर्मों से, मिला है जो भी दिखता है,
बहुत मजबूर है प्राणी, विधाता भाग्य लिखता है।।

किसी से भी करो मत द्वेष, सबसे प्रेम ही सीखो,
रहो 'सन्तोष' के संग में, किसी के दोष मत देखो।।

– *विदेह*

अप्रकाशित पत्र

स्वामी विवेकानन्द

(वर्ष १८९७ ई. में राजस्थान के खेतड़ी के जिला मुख्यालय में पुराने कागजों में स्वामीजी के दो पत्र पाये गये थे, जिन्हें हमारे अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के जनवरी '९८ के अंक में प्रकाशित किया गया था। ये पत्र स्वामीजी के अमेरिका के लिए प्रस्थान करने के पूर्व के जीवन पर कुछ नया प्रकाश डालते है। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए वहीं से इन महत्वपूर्ण पत्रों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

मद्रास

१५ फरवरी (१८९३)

महाराज,

मैं आपको दो बातें सूचित करने जा रहा हूँ – पहली तो कुम्भकोणम गाँव में देखी हुई एक बड़ी विचित्र घटना है और दूसरी बात स्वयं मुझसे सम्बन्धित है।

उपरोक्त गाँव में चेट्टी जाति का एक व्यक्ति निवास करता है, जिसे आम तौर पर लोग भविष्यवक्ता मानते हैं। दो अन्य युवकों के साथ मैं उससे मिलने गया था। प्रसिद्ध था कि वह मनुष्य के मन की कोई भी बात बता देता है, अत: मैं भी उसकी परीक्षा करना चाहता था। दो माह पूर्व मैंने सपने में देखा कि मेरी माँ की मृत्यु हो गयी है और मैं उनके बारे में बड़ा चिन्तित था। मेरी दूसरी जिज्ञासा यह थी कि मेरे गुरुदेव ने (मेरे विषय में) जो कुछ बताया था, क्या वे सही हैं? और तिब्बती भाषा में एक बौद्ध मंत्र के अंश के रूप में मेरा तीसरा प्रश्न उसकी परीक्षा में लिए था। इस गोविन्द चेट्टी के पास जाने के दो दिन पहले ही मैंने ये प्रश्न निर्धारित कर लिए थे, (मेरे साथ के) एक अन्य युवक की भाभी को किसी (अज्ञात व्यक्ति) ने जहर दे दिया था, जिससे वह उबर गयी थी, परन्तु वह जानना चाहता था कि यह दुष्कर्म किसने किया है?

हमसे मुलाकात होने पर पहले तो वह व्यक्ति काफी नाराज दिखा। उसने बताया कि मैसूर के दीवान को साथ लेकर कुछ यूरोपीय लोग उससे मिलने आये थे, तभी से उन लोगों की दोषदृष्टि के फलस्वरूप उसे बुखार हो गया है और इस कारण वह हमारे साथ बैठक नहीं कर सकेगा, पर यदि हम दस रुपये देने को राजी हों, तो वह हमारे प्रश्न (तथा उनके उत्तर) बताने को तैयार है। मेरे साथ गये युवक उसकी फीस देने को तैयार थे। वह अपने निजी कमरे में गया और तत्काल आकर बोला कि यदि मै उसके ज्वर को उतारने के लिए थोड़ी सी भभूत दे दूँ, तो वह हमारे साथ बैठने को तैयार है। मैंने उसे बताया कि मुझमें बीमारियाँ ठीक करने की क्षमता नहीं है, परन्तु वह बोला, "कोई बात नहीं, बस, मुझे भस्म दे दीजिए।" मेरी सहमति के उपरान्त वह हमें अपने निजी कमरे में ले गया। उसने एक कागज पर कुछ लिखने के बाद, हममें से एक को देकर उस पर मेरा हस्ताक्षर करवाया और उसे मेरे एक साथी की जेब में रखवा दिया।

इसके बाद वह सीधा मेरी ओर उन्मुख होकर कहने लगा, "एक संन्यासी होकर भी आप क्यों अपनी माता के बारे में चिन्ता कर रहे हैं?" उत्तर में मैंने कहा कि महान् शंकराचार्य ने भी तो अपनी माँ की खोज-खबर ली थी। और तब वह बोला, "वे सकुशल हैं और मैंने उनका नाम आपके मित्र के पास रखे कागज पर लिख दिया है।" इसके बाद वह कहने लगा, "आपके गुरु का देहान्त हो चुका है। उन्होंने आपको जो कुछ बताया है, उसमें आपको विश्वास करना चाहिए, क्योंकि वे एक बहुत ही महान् व्यक्ति थे।" और वह उनका परम अद्भुत ढंग से वर्णन करने लगा और उसके बाद वह बोला, "अपने गुरुदेव के बारे में आप और क्या जानना चाहते हैं?" मैं बोला, "यदि आप उनका नाम बता दें, तो मैं सन्तुष्ट हो जाऊँगा।" उसने पूछा, "कौन-सा नाम? संन्यासी के तो कई नाम होते हैं।" मैंने कहा, "वह नाम बताइये, जिसके द्वारा वे लोगों में विख्यात थे। उसने कहा, "वह अद्भुत नाम मैंने पहले से ही लिख दिया है और आप तिब्बती भाषा में एक मंत्र के बारे में जानना चाहते थे, वह भी उस कागज में है।" इसके बाद उसने मुझसे किसी भी भाषा में कुछ भी सोचकर बताने को कहा। मैंने कहा, "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।" वह बोला, "यह भी आपके मित्र के पास रखे कागज में लिखा हुआ है। अब उसे निकालकर देख लीजिए।" और यह बड़ी अद्भुत बात थी! उसने जो कुछ कहा था, वह सब कुछ उसमें था, यहाँ तक कि मेरी माता का नाम भी था। उसमें लिखा था – आपकी अमुक नामवाली माता सकुशल हैं। वे अत्यन्त पवित्र तथा भली हैं, परन्तु वे आपके वियोग में मृत्यु के समान पीड़ा का अनुभव कर रही हैं और दो साल के भीतर उनका देहान्त हो जायेगा। अत: यदि आप उनसे मिलना चाहते हों, तो दो वर्षों के भीतर ही ऐसा करना होगा।

इसके आगे लिखा था – आपके गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस का देहावसान हो चुका है, परन्तु वे सूक्ष्म शरीर में अब भी विद्यमान है तथा आपकी देखरेख कर रहे हैं आदि आदि।

इसके बाद तिब्बती भाषा में लिखा था, 'लामाला कैप्सेचुआ' और इसके बाद अन्त में लिखा था, "मैंने जो कुछ लिखा है, उसके सत्यापन के लिए मैं वह मंत्र भी देता हूँ, जो आप मेरे लिखने के एक घण्टे बाद बतायेंगे – ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" आदि । इसी प्रकार वह मेरे मित्रों के साथ भी सफल हुआ ।

इसके बाद मैंने देखा कि दूर दूर के गाँवों से लोग आ रहे हैं और वह उन्हे देखते ही कहता है – "आपका नाम अमुक है और आप अमुक गाँव से अमुक उद्देश्य से आये हैं ।" मेरे मन की बातें पढ़ते पढ़ते वह काफी नरम पड़ गया था और बोला, "मैं आपसे पैसे नहीं लूँगा । बल्कि आपको ही मुझसे कुछ 'सेवा' ग्रहण करनी होगी ।" मैंने उसके घर में थोड़ा-सा दूध लिया । वह अपने पूरे परिवार को मुझे प्रणाम कराने ले आया और मैंने उसकी लायी हुई थोड़ी-सी 'विभूति' (राख) का स्पर्श कर दिया । इसके बाद मैंने उसकी इस अद्‌भुत शक्ति का रहस्य पूछा । पहले तो वह कुछ बताने को राजी नहीं हुआ, परन्तु थोड़ी देर बाद ही वह आकर बोला, "महाराज, यह देवी सहायता से 'मंत्रसिद्धि' के द्वारा होता है ।" सचमुच ही, जैसा कि शेक्सपियर ने कहा है – "धरती और आकाश में ऐसी अनेक चीजें है, जिनकी तुम्हारे दर्शनशास्त्र कल्पना तक नहीं कर सकें हैं ।"

दूसरी बात स्वयं मुझसे सम्बन्धित है । रामनाद (रामेश्वरम्) के एक जमीदार यहाँ मद्रास में ठहरे हुए हैं । वे मुझे यूरोप भेजनेवाले है और जैसा कि आप जानते हैं, मुझे भी उन स्थानों को देखने की बड़ी इच्छा है । इसलिए मैंने यूरोप तथा अमेरिका की यात्रा पर जाने के इस मौके का उपयोग करने का निश्चय किया है। परन्तु महाराज, इस 'धरती पर आप ही मेरे एकमात्र मित्र' हैं और आपसे पूछे बिना मैं कुछ भी नहीं कर सकता ।

इसलिए कृपया इस विषय में आप मुझे अपना अभिमत बतायें । मैं इन स्थानों का एक छोटा-सा दौरा करना चाहता हूँ। एक बात में तो मैं निश्चित हूँ और वह यह कि मैं एक पवित्र एवं उच्चतर शक्ति के हाथों का यंत्र हूँ । जहाँ तक मेरा सवाल है, मुझे शान्ति नहीं है, मैं दिन-रात (वस्तुत:) जल रहा हूँ, परन्तु किसी-न-किसी प्रकार, जहाँ कहीं भी मैं जाता हूँ, सैकड़ों लोग, और मद्रास आदि में कहीं कहीं हजारों लोग, दिन-रात मेरे पास आते हैं और अपने संशय तथा नास्तिकता से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु मैं! मैं सदा ही दु:खभोग करता हूँ!! 'जो कुछ होगा, उन्हीं की इच्छा से होगा!!' अत: मुझे नहीं मालूम कि यह शक्ति यूरोप में मुझसे क्या कराना चाहती है । मैं आज्ञापालन करने को मजबूर हूँ । 'जो कुछ होगा, उन्हीं की इच्छा से होगा!!' बचने का कोई उपाय नहीं ।

महाराज, पुत्र तथा उत्तराधिकारी के जन्म पर मैं आपको बधाई देता हूँ । मैं प्रार्थना करता हूँ कि नवजात राजकुमार अपने अत्यन्त सज्जन पिता के समान ही हो और प्रभु सदा-सर्वदा उस पर तथा उसके माता-पिता पर आशीषों की वर्षा करते रहें ।

अत: दो या तीन सप्ताह में मैं यूरोप जा रहा हूँ । मैं अपने इस शरीर के भविष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकता । महाराज से मेरी इतनी ही प्रार्थना है कि यदि आप उचित समझें, तो मेरी माता का थोड़ा ख्याल करें कि कहीं वह भूख से पीड़ित न रहे ।

शीघ्र ही उत्तर पाकर मैं बड़ा आभारी होऊँगा और महाराज से अनुरोध है कि इस पत्र का उत्तरार्ध अर्थात् मेरे इंगलैंड आदि जाने की बात को गोपनीय रखें ।

आप तथा आपका परिवार आजीवन धन्य हो, दिन-रात मैं यही प्रार्थना निवेदित करता हूँ ।

*सच्चिदानन्द**

द्वारा एम. भट्टाचार्य एस्क्वायर
उप-महालेखाधिकारी
माउंट सेंट थाम, मद्रास

– २ –

बम्बई,
२२ मई, १८९३

महामहिम,

खेतड़ी से प्रस्थान करने के बाद आपको बताने लायक कोई विशेष घटना नहीं हुई, बताने योग्य केवल इतना ही है कि रास्ते में मुझे हर तरह से आराम मिला, खरारी में यात्रा को विराम देने के बाद मैं नदियाद गया । हरिदास भाई पूर्ववत् ही मेरे प्रति अत्यन्त कृपालु रहे और हम दोनों न आपके विषय में बहुत-सी चर्चा की – इतनी चर्चा की कि वे आपसे मिलने को अतीव उत्सुक हैं और अगले जाड़ों की अपनी प्रस्तावित उत्तर भारत की यात्रा के समय वे आपको श्रद्धा ज्ञापित करने के इच्छुक हैं और मैं साहसपूर्वक यह कह सकता हूँ कि महाराज आप भी इन अनुभवसम्पन्न वृद्ध सज्जन से मिलकर अतीव प्रसन्न होंगे, जो (पिछले) पच्चीस वर्षों से काठियावाड़ के सलाहकार रहे हैं । वस्तुत: अत्यन्त पुरातनपन्थी राजनेताओं की प्राचीन परम्परा के वे एकमात्र अवशेष हैं । वे एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो एक विद्यमान व्यवस्था को पूरी तौर से संगठित करने ठीक ठीक नियंत्रित करने में सक्षम है, परन्तु वे इससे एक भी कदम आगे बढ़नेवाले व्यक्ति नहीं हैं ।

* उन दिनों स्वामीजी ने यही नाम धारण कर रखा था ।

मुम्बई में मैं अपने बैरिस्टर मित्र रामदास से मिलने गया। वे एक भावुक सज्जन हैं और महाराज के चरित्र से इतने प्रभावित हैं कि उन्होंने मुझे बताया कि यदि यह ग्रीष्म का मध्य भाग नहीं होता, तो वे ऐसे राजा को देखने उड़कर चले जाते।

३१ तारीख को उनके पिताजी का शिकागो जाने का विचार है। यदि ऐसा हुआ तो हम दोनों एक साथ ही यात्रा करेंगे। आज मैं लोहे का संदूक आदि खरीदने जा रहा हूँ और मद्रास से आनेवाले धन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। वैसे मैंने उन्हें जयपुर से तार भेज दिया था, तथापि उन्हें थोड़ा सन्देह था और वे लोग मेरे अगले सन्देश का इन्तजार कर रहे थे। मैंने उन्हें पुनः तार भेजा है और पत्र भी लिखा है।

वहाँ से आते समय मार्ग में हमें जयपुर के नोबल्स स्कूल के चारण हेडमास्टर श्री रामनाथ का संग मिला। वर्षों पूर्व जब मैंने खेतड़ी से पहली बार विदा ली थी, उस समय हम दोनों के बीच शाकाहारवाद पर एक बहस हुई थी। इस दौरान उन्हें कुछ अमेरिकी लेखकों के विचार मिल गये थे और वे उनके तर्कों को लेकर मेरे ऊपर पिल पड़े। उन्होंने बताया कि उनके लेखक ने बड़े सन्तोषजनक रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि दाँतों सहित मनुष्य का पाचन-तंत्र बिल्कुल ठीक ठीक गाय के ही समान है; अतएव प्रकृति ने मनुष्य का निर्माण एक शाकाहारी जीव के रूप में ही किया है। वे एक बड़े ही भले तथा अच्छे सज्जन व्यक्ति हैं और मैं अमेरिकी विद्वान् में उनकी श्रद्धा को विचलित नहीं करना चाहता था, परन्तु एक बात मानो मेरी जिह्वा पर आ ही गयी थी। यदि हमारा पाचन-तंत्र ठीक ठीक गाय के ही समान है, तो फिर हमें भी घास खाने और उसे पचाने में समक्ष होना चाहिए। यदि ऐसा हो, तो निर्धन भारतवासी अकाल के समय (व्यर्थ ही) भूखों मरने की मूर्खता करते हैं, जबकि घास रूप उनका स्वाभाविक भोजन इतनी प्रचुरता से उपलब्ध है और आपके सेवक भी मूर्ख हैं, जो आपकी सेवा करते हैं; इतना कष्ट उठाकर दूसरों की सेवा करने की जगह वे निकट की पहाड़ी पर जाकर भरपेट घास प्राप्त कर सकते हैं! सचमुच ही यह एक महान अमेरिकी खोज है! मैं तो यह आशा करता हूँ कि ऐसे मानव-गायों का पवित्र गोबर उस अद्भुत अमेरिकी लेखक तथा उसके भारतीय शिष्यों के लिए बड़ा उपयोगी होगा। अस्तु, गो-मानव सिद्धान्त पर इतना ही।

महामहिम को सूचित करने योग्य मुझे और कुछ नहीं दिखता, अतः यहीं समाप्त करने की अनुमति चाहूँगा।

समस्त कल्याण के प्रदाता आपको श्रेष्ठ आशीर्वाद प्रदान करें।

प्रभु में आपका
विवेकानन्द

सारदायाः प्रातःस्मरणम्

रवीन्द्रनाथ गुरुः

प्रातः स्मरामि वरदाऽभयहस्तपद्माम्
श्रेयो-विधानकुशलाञ्च सतां शरण्याम्।
श्रीरामकृष्णहृदयाम् कलिकल्मषघ्नीम्
तां सारदां सुमतिदां करुणां दधानाम् ॥१॥

— मैं प्रातःकाल भगवान श्रीरामकृष्ण की जीवनसंगिनी माँ श्रीसारदा देवी का स्मरण करता हूँ, जिनके करकमल वर तथा अभय देते रहते हैं, जो सबका मंगल करने में कुशल हैं, जो सज्जनों को शरण देनेवाली, कलियुग के कलुषों का नाश करनेवाली, सुबुद्धि देनेवाली तथा करुणा की आगार हैं।

प्रातर्भजामि जननीं सचराचराणाम्
ईडास्पदाम् परमहंसगुरोश्च जायाम्।
भक्त्या मनोऽर्चयतु सादरमम्ब नित्यम्
देवीं सदैव भवतीं भुवि सारदाख्याम् ॥२॥

— प्रातःकाल मैं उन श्रीसारदा देवी का भजन करता हूँ, जो समस्त चर-अचर प्राणियों की जननी हैं, स्तुति की पात्र और परमहंस श्रीरामकृष्ण देव की सहधर्मिणी हैं। हे अम्बे, आप ऐसी कृपा करें कि इस संसार में मेरा मन श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक सतत आप सारदा नामवाली देवी की उपासना करता रहे।

प्रातर्नमामि महतीं जनतार्तिहन्त्रीम्
कल्याणदां जनविपद्भयनाशदक्षाम्।
हे सारदे! प्रशमयाश्चखिलारिवर्गम्
पादाऽऽश्रितस्य सततं पतितस्य मातः ॥३॥

— प्रातःकाल मैं उन महान् जननी को नमन करता हूँ, जो सबके दुखों को दूर करनेवाली, कल्याण प्रदान करनेवाली हैं और लोगों के विपत्ति तथा भय का नाश करने में दक्ष हैं। हे माँ सारदे, आप शीघ्र ही मुझ चरणाश्रित नित्य-पतित के समस्त काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनाशपूर्वक शान्त कीजिए।

भक्तानन्दविधानश्च कुर्यात्स्तोत्रमिदं चिरम्।
जनन्याः सारदायाश्च प्रातः स्मरणमेव नः ॥४॥

— चिर काल तक जननी सारदादेवी का यह प्रातःस्मरण स्त्रोत्र हमारा तथा उनके भक्तों का परमानन्द विधान करता रहे।

जननी सारदा पायात् श्रद्धारूपा स्मिताऽऽनना।
करुणाऽऽवरणा धात्री सुशीला वत्सवत्सला ॥५॥

— माँ सारदा सदैव हमारी रक्षा करें, जो श्रद्धामयी, स्मित-मुखी, करुणामयी, जगद्धात्री, सुन्दर स्वाभाववाली तथा अपने सन्तानों के प्रति वात्सल्यमयी हैं।

ममता बुरी बलाय

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, अम्बिकापुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

कहावत प्रसिद्ध है कि 'ममता बुरी बलाय' – अर्थात् ममता एक बुरी बला है। यह सही है कि ममता के द्वारा माता-पिता अपनी सन्तानों का परिपालन करने की प्रेरणा पाते हैं, पर यह भी सही है कि ममता-रोग से ग्रस्त व्यक्ति स्वार्थ के तग दायरे में घिरकर सकीर्ण, अनुदार और पक्षपाती हो जाता है। एक न्यायाधीश का किस्सा है । उसने न जाने कितने अपराधियों को फाँसी की सजा दी थी। किन्तु एक दिन जब उसी का लड़का हत्या के अपराध में उसी की अदालत में पेश किया गया, तो न्यायाधीश का स्वर बदल गया। वह दलील देने लगा कि फाँसी की सजा अमानवीय है, मनुष्य को ऐसी कठोर सजा देना शोभा नहीं देता, इससे अपराधी के सुधरने की आशा खत्म हो जाती है; खून करनेवाले ने भावना और आवेश में, जोश और उत्तेजना में खून कर डाला, पर जब उसकी उत्तेजना खत्म हो जाती है, तो उसे अपने किये पर ग्लानि होती है, इसलिए फाँसी के तख्ते पर चढ़ाकर उसके प्रायश्चित्त का रास्ता बन्द नहीं करना चाहिए, आदि आदि। यदि न्यायाधीश के सामने उसका अपना लड़का न होकर कोई अन्य होता, तो उसने बेहिचक फाँसी की सजा दे दी होती, पर अपने लड़के के प्रति उसका ममत्व उसके कर्तव्य-पालन में आड़े आ रहा था।

इस ममत्व का कारण यह है कि हम ससार को 'पदार्थनिष्ठ' दृष्टिकोण से नहीं देख पाते। ससार को देखने के दो तरीके हैं - एक तो वह जिसे हम subective यानी 'आत्मनिष्ठ' दृष्टिकोण कहते हैं और दूसरा वह, जो objective यानी 'पदार्थनिष्ठ' या 'वस्तुनिष्ठ' दृष्टिकोण कहलाता है। पदार्थ के अपने कुछ विशिष्ट गुण होते हैं, जो उस पदार्थ के सन्दर्भ में तो अपरिवर्तनशील हैं, पर व्यक्ति-भेद से उनके महत्त्व और उपादेयता में भिन्नता हुआ करती है। उदाहरणार्थ, हम सोने की एक डली लें। सोने की दृष्टि से सोने के जो गुण हैं, वे परिवर्तित नहीं होते, पर विभिन्न व्यक्ति उस डली को अलग अलग दृष्टि से देखेंगे – कोई उसमें हार देखेगा, तो कोई कगन। जिसे कर्णफूल बनाने की इच्छा होगी, वह उस डली में कर्णफूल देखेगा। इस प्रकार व्यक्ति-भेद से सोने के साथ रागात्मक सम्बन्ध में भी भिन्नता हो जाती है। यदि ये रागात्मक सम्बन्ध हटा दिये जायँ, तो व्यक्ति निरपेक्ष दृष्टि से सोने को देखने में समर्थ होगा। उसे सोना सोना ही दिखाई देगा। हम अपनी इस बात को थोड़ा और स्पष्ट करें।

कल्पना करें कि एक व्यक्ति जरूरत में पड़कर अपना सोने का गहना बेचने दुकान पर आया है। इस व्यक्ति के लिए भले ही गहने का रूप सत्य हो, पर दुकानदार के लिए तो सोना ही सत्य है। वह रूप की तनिक भी परवाह नहीं करता। अगर गहना हाथ से छूटकर नीचे गिर जाय, तो बेचनेवाला लपककर उसे उठा लेगा और देखेगा कि वह कहीं टूटा या पिचका तो नहीं है। पर दुकानदार अविचलित रहता है। गहने के टूटने या पिचकने से उसका कोई प्रयोजन नहीं। गहना साबुत हो तो भी उसकी दृष्टि में उसकी उतनी ही कीमत होगी, जितनी कि उसके टूटने या पिचकने पर।

ममत्व का यह रोग हममें इतनी गहराई तक व्याप्त है कि इसने हमारे राष्ट्रीय चरित्र को ही दूषित कर रखा है। रोग की इस विभीषिका से त्राण पाने का उपाय यह है कि हम अपने दृष्टिकोण को अधिकाधिक 'वस्तुनिष्ठ' बनाने का प्रयास करें।

इस ममत्व को विश्वविख्यात वैज्ञानिक अल्बर्ट आइस्टाइन 'चेतना का दृष्टिगत भ्रम' कहते हैं। उन्होंने अपने एक मित्र को उसके आत्मीय की मृत्यु पर सान्त्वना-पत्र में लिखा - ''मनुष्य उस समग्र का जिसे हम 'जगत्' कहते हैं, देश और काल में बँधा एक अश है। वह अपने को, अपने विचारों और भावनाओं को शेष सबसे अलग-थलग मानकर अनुभव करता है। यह उसकी चेतना का एक तरह से दृष्टिगत भ्रम है। यह भ्रम हमारे लिए जेलखाने के समान है, जो हमें अपनी व्यक्तिगत चाहों और अपने इने-गिने निकटतम लोगों के प्रति प्यार में 'कैद' कर देता है। हमें चाहिए कि हम अपनी सहानुभूति के घेरे को ऐसा बढ़ाएँ जिससे सम्पूर्ण प्राणी और सारा निसर्ग अपने सौन्दर्य के साथ उसमें आकर समा जाय और इस प्रकार हम इस कैद से अपने को मुक्त कर लें। यद्यपि कोई भी इसे पूरी तरह से साधित करने में समर्थ नहीं है, फिर भी इसे साधने का प्रयत्न करना अपने आप में मुक्ति का एक अग है और आन्तरिक सुरक्षा का आधार है।''

❑❑❑

मंत्रदीक्षा के लिए तैयारी

स्वामी भूतेशानन्द

(बहुधा मंत्रदीक्षा को मात्र एक अनुष्ठान समझ लिया जाता है, परन्तु जन्म, मृत्यु, विवाह आदि के समान ही मंत्रदीक्षा भी जीवन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है, अतः इसे अत्यन्त गम्भीरता से लेना आवश्यक है। जिस प्रकार अच्छी तरह जुती तथा तैयार भूमि में बीज बोने से ही अच्छे फसल की आशा की जा सकती है, उसी प्रकार दीक्षा का सर्वाधिक लाभ उठाने के लिए मन की कैसी तैयारी आवश्यक है, यही प्रस्तुत आलेख में स्पष्ट किया गया है। मिशन के सिलहट आश्रम में ८ अगस्त १९९५ को रामकृष्ण मठ तथा मिशन के तत्कालीन परमाध्यक्ष महाराज ने एक अत्यन्त उपयोगी भाषण दिया था, जो 'उद्बोधन' मासिक के जुलाई १९९९ के अंक में प्रकाशित हुआ। हमारे आश्रम के स्वामी निर्विकारानन्द जी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

बहुत-से लोगों को दीक्षा लेने की अभिलाषा होती है, परन्तु कुछ बातें ऐसी हैं, जिनकी जानकारी रहने पर दीक्षा आपके जीवन में ज्यादा फलदायी हो सकेगी। अतः हम चाहते हैं कि दीक्षा लेने के पूर्व आपका श्रीरामकृष्ण, माँ श्री सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों के साथ कम-से-कम थोड़ा-सा परिचय अवश्य हो चुका हो। किसी के दीक्षा माँगने पर, हम उसे तैयारी करने को और बिना-तैयारी आ जाने पर थोड़ी प्रतीक्षा करने को कहते हैं। पूरी तैयारी के बाद ही दीक्षा के लिए आने की सलाह दी जाती है। यह तैयारी रहने पर हमारा कार्य आसान हो जाता है और हमारी बातें समझने में सुविधा होती है।

शास्त्रों के नियमानुसार जो लोग दीक्षा की कामना से गुरु के पास जाते हैं, उनके जीवन में कितनी तैयारी आवश्यक है, इसके दृष्टान्त के रूप में एक घटना का उल्लेख किया जा सकता है। नारद मुनि दीक्षा पाने को भगवान सनत्कुमार के पास गये। सनत्कुमार ने कहा, "पहले बताओ कि तुम क्या क्या जानते हो, उसके बाद सोचूँगा कि तुम्हें क्या उपदेश दिया जाय।" नारदजी जो कुछ जानते थे, जितने शास्त्र उन्होंने पढ़े थे, उन सबकी एक लम्बी सूची बता दी। उस सूची में कोई भी प्रमुख शास्त्र छूटा नहीं था। सारे शास्त्रों का अध्ययन करके ही वे सनत्कुमार के पास आये थे। उन्होंने कहा, "मैंने ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और षड् वेदाङ्ग के सब ग्रन्थ पढ़े हैं। परन्तु उतना सब पढ़ने के बाद भी मेरे मन में शान्ति नहीं है। मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ। मेरे भीतर सर्वदा एक असन्तोष बना रहता है। ऐसा दुःख बना रहता है, मानो कुछ अपूर्ण रह गया हो और जिसके कारण मैं अपने जीवन में शान्ति नहीं पा रहा हूँ।" सनत्कुमार ने कहा, "नारद, तुम जो कुछ जानते हो, वह सब तो तुमने बता दिया, शास्त्रों की लम्बी सूची प्रस्तुत कर दी; परन्तु जिसे तुम जानते हो, वह सब शब्द मात्र है। तुम शब्दविद् हो, परन्तु तुम अपने आप को नहीं जानते, तुम आत्मविद् नहीं हो। जो आत्मविद् होता है, वह शोक से छुटकारा पा जाता है। तुम आत्मविद् न होने के कारण ही शोक से आच्छन्न हो।" तत्पश्चात् नारद ने विनम्रता के साथ कहा, "हे भगवन्, आप मुझे वही उपदेश दीजिए, जिससे मैं शोक के हाथों से छुटकारा पा सकूँ।"

इससे हमें क्या शिक्षा मिलती है? इससे समझ में आता है कि दीक्षा लेने के पहले व्यक्ति को मनरूपी जमीन तैयार करनी चाहिए। जमीन तैयार किये बिना ही यदि हम बीज बो दें, तो वह व्यर्थ चला जायेगा। अतः पहले खाद आदि डालकर जमीन तैयार कर लेनी चाहिए और ऐसा किये बिना ही यदि हम बीज बो दें, तो उसमें भला अच्छी फसल कैसे हो सकती है? इसलिए हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि दीक्षा के लिए तैयारी आवश्यक है।

एक बात मुझे और कहनी है और वह यह कि इस तैयारी का कोई अन्त नहीं है। मनरूपी इस जमीन की तैयारी का तात्पर्य यह है कि अशुद्ध मन से काम नहीं होगा; सदाचार, विनय, श्रद्धा तथा निष्ठा – इन सब की सहायता से जमीन तैयार करनी होगी। यदि भगवन्नाम लेने की ठीक ठीक इच्छा हो, तो फल भी अद्भुत होगा। श्रीरामकृष्ण एक उदाहरण देते हैं – सीपी अपना मुँह खोले स्वाति नक्षत्र के जल की एक बूँद के लिए प्रतीक्षा करती रहती है। उसे पाने के बाद वह अपना मुँह बन्द करके पानी के नीचे चली जाती है और एकान्त में मोती तैयार करती है। मन्त्रदीक्षा ही स्वाति नक्षत्र के जल की वह बूँद है। मन्त्रदीक्षा लेने के पहले इसी प्रकार की इच्छा के साथ सीपी के समान हृदय खोलकर तत्त्वप्राप्ति के लिए प्रतीक्षा करनी होगी, तभी जीवन में मन्त्र लेना सार्थक होगा।

हम सर्वदा, और दीक्षा के समय तो विशेष रूप से कहते हैं कि श्रद्धा-भक्ति के बिना दीक्षा की कोई सार्थकता नहीं है। अतः हमें श्रद्धावान होना होगा और तभी वह बीज फल-फूल कर सुशोभित वृक्ष में परिणत होगा। इसीलिए याद रहे कि दीक्षा के लिए पूर्वतैयारी परम आवश्यक है। वस्तुतः तैयारी के बिना इससे कोई लाभ नहीं होगा। शास्त्रों में कहा गया है कि दीक्षार्थी को गुरु की कृपा पाने हेतु, अपना जीवन शुद्ध-पवित्र बनाकर और सेवाभाव, विनय तथा अहैतुकी भक्ति के साथ उनके पास जाना चाहिए। शास्त्रों में इतनी तैयारी की बात इसलिए कही गयी है कि जिस समय हमें भगवान का नाम दिया

जाता है, वह हमारे जीवन का एक अमूल्य क्षण होता है। यदि हम उसी नाम को प्रेमपूर्वक हृदय में धारण करके, उसी में मन को एकाग्र करके सीपी की भाँति गहराई में डूब सकें, तो हमारे भीतर परम रत्न तैयार हो जायेगा। श्रीरामकृष्ण के उपदेशों से हमें यही शिक्षा मिलती है। गीता में भी कहा गया है –

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ १८/६७

– जिसने तपस्या न की हो, जो भक्त नहीं है, जो सुनने का इच्छुक नहीं है तथा जो सेवापरायण नहीं है, उसे यह तत्त्व नहीं देना चाहिए। और जो ईश्वर के प्रति द्वेषभाव रखते हों, उन्हें भी यह तत्त्व नहीं देना चाहिए।

ऐसे लोगों को वंचित क्यों किया जाता है? इसलिए कि उनकी जमीन तैयार नहीं हुई है। वस्तुतः जमीन तैयार होने पर ही भगवान के नाम में अनुराग आता है। यह बात दीक्षार्थियों तथा दीक्षित भक्तों को विशेष रूप से स्मरण रखनी होगी। इसीलिए शास्त्रों ने हमें विनयी तथा सेवाभावी होने और यथासम्भव पवित्र रहने की सलाह दी है। अनेक लोगों के मन में तो उल्टी ही धारणा है। वे सोचते हैं कि दीक्षा लेने से ही उनका शरीर-मन शुद्ध हो जायेगा। यह एक भ्रान्त धारणा है। दीक्षा पाते समय उसे धारण करने हेतु हमारे लिए अपने हृदय को पवित्र करना परम आवश्यक है। मन्दिर तथा उसके आसपास सफाई करके ही उसमें भगवान की स्थापना की जाती है। मंत्र ग्रहण करने का तात्पर्य है – जीवन में भगवान की स्थापना। और उसी के लिए इन सब तैयारियों की जरूरत है। इस तैयारी की उपेक्षा करने पर हमारे हृदय में भगवान की स्थापना नहीं हो सकती।

भक्त लोग कभी कभी अपने दस-बारह साल या उससे भी कम उम्र के बच्चों को दीक्षा दिलाने का अनुरोध करते हैं, परन्तु हम छोटे बच्चों को दीक्षा देना नहीं चाहते। हमारे मना करने पर वे लोग दुखी होते हैं और इसके लिए बारम्बार आग्रह करते रहते हैं। इसका कारण यह है कि वे दीक्षा का उद्देश्य नहीं समझते। क्या ये छोटे बच्चे दीक्षा के लिए तैयार हैं? क्या उनके मन में इस विषय को समझने की क्षमता है? ऐसी दीक्षा तो बच्चों के खेल जैसी है। सम्भव है कि कुछ लोग सच्ची श्रद्धा के साथ आग्रह करते हों, परन्तु वे लोग दीक्षा के महत्व, तात्पर्य तथा गम्भीरता के विषय में भलीभाँति अवगत नहीं हैं, इसीलिए ऐसा करते हैं। दीक्षा लेने का भी एक उपयुक्त समय होता है। जब मन दीक्षा के लिए व्याकुल हो, तब समझ लेना चाहिए कि मुझमें मंत्र पाने की पात्रता आ गयी है। इस बात को याद रखने में ही भलाई है।

दीक्षा जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है, अतः दीक्षा के विषय को बड़ी गम्भीरता से लेना होगा। केवल दीक्षार्थियों के लिए ही नहीं, बल्कि सबके प्रति मेरा कहना है कि दीक्षा कहीं मात्र प्रतिष्ठा का चिह्न न बन जाय। स्मरण रखना होगा कि दीक्षा ईश्वर-प्राप्ति का माध्यम है। जो लोग दीक्षा लेने आते हैं, उनके हृदय में गम्भीरता रहना आवश्यक है। नहीं तो, सम्भव है कि गुरुजी कुछ उपयोगी निर्देश दे रहे हों, परन्तु दीक्षार्थी लोग इस ओर ध्यान न देकर कुछ और ही सोच रहे हों। स्पष्ट है कि उनके मन में दीक्षा के महत्त्व की ठीक धारणा नहीं हो सकी है। यह सब मैं इसलिए कह रहा हूँ कि दीक्षा के सम्बन्ध में एक गम्भीरता का भाव रखना आवश्यक है। दीक्षा जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, यह बात भूल जाने पर इसकी सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकेगी। अनेक बार हमें मजबूरी में प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच से होकर चलना पड़ता है। इन्हें अवश्य दूर करना होगा, परन्तु इसके लिए इच्छा तथा मनोबल कहाँ से मिलेगा? पूरी तैयारी के साथ दीक्षा लेने पर, दीक्षा से ही वह शक्ति मिल जाती है।

एक बात और याद रखने की है कि दीक्षा पाने के बाद हमारा आचरण भी दीक्षा के अनुरूप होना चाहिए। दीक्षा के समय हम पाँच प्रकार के आचरण की बात कहते हैं। ये बातें कोई गोपनीय नहीं हैं। सभी के लिए इन्हें जानना आवश्यक है। आचरण यदि शुद्ध नहीं होगा, तो भगवान की ओर नहीं जा सकोगे। अतः भगवान की ओर जाने के लिए आचरण शुद्ध होना जरूरी है। हम बहुधा सुनते हैं कि हमारे लिए शुद्ध आहार आवश्यक है। शुद्ध आहार से क्या तात्पर्य है? क्या पर्याप्त घी डालने से आहार शुद्ध हो जायेगा? ऐसी बात नहीं है, बल्कि शरीर के लिए उपयोगी सात्त्विक आहार को शुद्ध आहार कहते हैं। शास्त्रों में ऐसा ही बताया गया है। जो भोजन शरीर तथा मन के पोषण के लिए उपयोगी हो, उसे यथेष्ट मात्रा में ग्रहण करना होगा। तात्पर्य यह कि हमें लोभवश नहीं, बल्कि इसलिए खाना है कि यह भोजन हमारे तन-मन को पुष्ट करेगा और ऐसे पुष्ट शरीर-मन को हम भगवच्चिन्तन में लगायेंगे। इसी बात को ध्यान में रखकर भोजन ग्रहण करना होगा। यह नहीं खाना, वह नहीं खाना – आहारशुद्धि नहीं है। सीमित मात्रा में ऐसे पदार्थों को खाना, जिससे हमारा तन-मन पुष्ट हो – इसी को आहारशुद्धि कहते हैं।

आहारशुद्धि से भी अधिक महत्व आचरण-शुद्धि का है। इन्हीं पाँच आचरणों की बात हम कहने जा रहे हैं –

१. हमें सबके कल्याण की कामना करनी चाहिए; कभी कोई ऐसा कार्य या किसी के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना

चाहिए, जिससे उसका अनिष्ट हो या उसके शरीर-मन को क्षति पहुँचे। शास्त्र अहिंसा की बात कहते हैं। अहिंसा का अर्थ है – किसी के शरीर तथा मन को कष्ट न देना; किसी का अहित न सोचना तथा किसी को हानि न पहुँचाना। तन, मन तथा वाणी से इन सबका पालन करना चाहिए।

२. सत्य को सर्वदा पकड़े रहना होगा; इस प्रकार पकड़े रखना होगा कि किसी भी परिस्थिति में हम सत्य से विचलित न हों। ध्यान रहे कि हम कभी भी झूठ का सहारा न लें और कोई वचन देने पर उसे अवश्य पूरा करें। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि सत्य बोलना कलियुग की तपस्या है। वे और भी कहते हैं कि जो व्यक्ति सत्य को पकड़े रहता है, वह मानो भगवान की गोद में सोया रहता है। ऐसी बात नहीं है कि सत्य का पालन बड़ा आसान हो। सत्य के लिए हमें अपने जीवन में बहुत-सा त्याग स्वीकार करना पड़ता है। यह सहज नहीं है, तथापि हम यह न भूलें कि यही हमारे जीवन का आदर्श है।

३. हम किसी के साथ किसी प्रकार की धोखाधड़ी या ठगी न करें। किसी को धोखा देकर कुछ हासिल न करें। दूसरों से हम उतना ही लें, जितना न्यायसगत हो। लोगों के साथ व्यवहार की यह सच्चाई साधना में सहायक है।

४. हमें अपनी इन्द्रियों द्वारा परिचालित न होकर, उन्हें अपने वश में रखना होगा। हमें केवल एक या दो नहीं, बल्कि समस्त इन्द्रियों का सयम करना होगा। यह भी साधन-पथ के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

५. हमारे इस जीवन का उद्देश्य ईश्वर का स्मरण या उनकी प्राप्ति है। हमारा जीवन-यापन सहज, सरल तथा स्वाभाविक हो। हमारी प्रवृत्ति विलासिता की ओर न हो। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि सभी लोग भिखारियों के समान कपड़े पहनें या दीन-हीन भाव से रहें। हमें केवल इतना ही देखना होगा कि कम-से-कम कितनी चीजों से हमारा काम चल सकता है। किसी चीज के प्रति हममें लोभ न हो। हजार रुपये महीने कमानेवाला सोचता है कि पाँच हजार की आय होने से अच्छा रहता, पाँच हजार कमानेवाला दस हजार की कामना करता है, दस हजार कमानेवाला लाख रुपये महीने चाहता है, लाखवाला करोड़ की चाह रखता है। इस प्रकार हमारी इच्छाएँ क्रमशः बढ़ती चली जाती हैं और ये निरन्तर बढ़ती हुई इच्छाएँ हमारे मन को चचल बनाये रखती हैं। इसीलिए मन को सयमित करने की सलाह दी गयी है। दुनिया की सारी धन-दौलत पाकर भी कोई सन्तुष्ट नहीं हुआ, क्योंकि मन का स्वभाव ही ऐसा है। जिसे जितना मिल जाता है, वह उतना ही अधिक चाहता है। जैसे अग्नि में घी डालने से वह और भी प्रबल रूप से जलने लगती है, वैसे ही हम जितना ही अधिक भोग्य वस्तुओं का संग्रह करेंगे, उसी अनुपात में हमारी इच्छाएँ बढ़ती चली जायेंगी। ये कामनाएँ ही मनुष्य को अशान्त तथा भ्रमित किये रहती हैं।

बहुत-से लोग कहते हैं – हमें शान्ति चाहिए। हमारा कहना है कि मन में कोई कामना मत रखो, तो शान्ति अपने आप ही आ जायेगी। कामना रहने से ही अशान्ति उत्पन्न होती है, क्योंकि संसार में हम इतने प्रकार की कामनाओं को पालते हैं, जिन्हें पूरा करना कभी सम्भव नहीं हो सकता। इसी कारण मन में शान्ति नहीं आती। हमें शान्ति इसलिए नहीं मिलती, क्योंकि हमारे मन में जो इच्छाएँ हैं, वे पूरी नहीं होती और उन्हें पूरा करना भी आसान नहीं है। एक इच्छा के पूरी होते-न-होते दस नयी इच्छाएँ पैदा हो जाती हैं। जिनके पास रहने-खाने की व्यवस्था है, वे सोचते हैं कि क्या मैं केवल रहने-खाने के लिए ही पैदा हुआ हूँ? मुझे गाड़ी भी चाहिए! इसके बिना जीवन का भोग भला कैसे हो सकता है? और दूसरी ओर जिनके पास जीवन की समस्त भोग्य वस्तुएँ उपलब्ध हैं, प्रायः उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, अतः वे सब कुछ होने पर भी भोग नहीं कर पाते। इसलिए कामनाओं की पूर्ति कभी सम्भव नहीं है। पुराणों में एक कथा आयी है। राजा ययाति अनेक वर्षों तक सभी प्रकार की कामनाओं का भोग करते रहे। यौवन बीत जाने पर उन्होंने पाया कि उनमें अब भोग करने की क्षमता नहीं बची है, परन्तु भोग करने की कामना अब भी अत्यन्त प्रबल है। और कोई उपाय न देखकर उन्होंने भगवान से प्रार्थना की। वे प्रकट होकर बोले – "तुम्हारा यौवन तो अब समाप्त हो चुका है। अब यदि तुम्हारे पुत्र तुम्हें अपना यौवन दे दें, तभी तुम पुनः भोग कर सकोगे।" उन्होंने अपने सभी पुत्रों को बुलाकर पूछा कि उनमें से कौन उन्हें अपना यौवन देने को तैयार है। पुरु नामक उनके सबसे छोटे पुत्र को छोड़कर कोई भी इसके लिए राजी नहीं हुआ। राजा ययाति उसे लेकर फिर से भोग में डूब गये। खुद का यौवन तो गया ही, पुत्र का यौवन लेकर भी भोग किया। इसके बाद उनके मन में आया कि इतने दिनों तक तो भोग किया, परन्तु मेरी कामना तो घटने के स्थान पर बढ़ती ही जा रही है। जैसे अग्नि में घी डालने पर वह और भी जोर से जलने लगती है, वैसे ही भोग्य वस्तुएँ भी हमारी कामनाओं को केवल बढ़ाती हुई हमारी अशान्ति में वृद्धि ही करती रहती हैं।

यही मनुष्य का जीवन है। हम शान्ति चाहते हैं, सोचते हैं कि भगवान को पुकारने में ही शान्ति है और उन्हें पुकारने लगते हैं, परन्तु हमारा यह पुकारना केवल भोग्य वस्तुओं को

पाने के लिए ही होता है। भगवान यदि हमें खूब धन-सम्पदा दे दें और हम यदि सगे-सम्बन्धियों के साथ सुखपूर्वक रह सकें, तो भगवान बड़े अच्छे हैं और यदि हमारे जीवन में घोर सकट आ जाय, तो भगवान बुरे हैं। यदि परिवार में किसी युवक की मृत्यु हो गयी या कोई विपत्ति आ गयी, तो लोग सोचते हैं कि यह सब भगवान का कृत्य है और कहते हैं कि उन्होंने यह क्या किया! तब भगवान अच्छे नहीं रह जाते। हमारा भगवान को पुकारने का कारण है कि वे हमारी कामनाओं को पूरा करेंगे और ऐसा न होने पर हमारी भक्ति का लोप हो जाता है। इस प्रकार भगवान को पुकारने से शान्ति नहीं आती। उनके चरणों में आत्मसमर्पण करने से ही शान्ति आती है। वे चाहे सुखी रखें या दुखी, अच्छा करें या बुरा — सभी अवस्थाओं में उन्हीं की इच्छा को हितकर मानकर स्वीकार करना होगा। और सुख या दुख, चाहे जो भी आये, उसको उन्हीं का दिया समझकर शिरोधार्य करना होगा। मृत्यु भी आ जाय, तो शरणागत भक्त के मन में, उससे डरने की जगह, उसे स्वीकार करने, वरण करने तथा उससे दुखी न होने का भाव आयेगा। शास्त्र भी यही कहते हैं कि शरणागति होने पर शान्ति आती है। भगवान को चाहनेवाले की दृष्टि में ससार की सारी भोग्य वस्तुएँ तुच्छ हो जाती हैं। भगवान का नाम लेते लेते उसका मन उन्हीं में इतना तन्मय हो जाता है कि अन्य सभी वस्तुओं के प्रति उसका आकर्षण घट जाता है। उदाहरण के लिए यदि किसी को कोई बहुमूल्य रत्न मिल जाय, तो वह छोटी-मोटी चीजों की ओर देखेगा तक नहीं, क्योंकि सर्वश्रेष्ठ भोग्य वस्तु उसके पास है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'पारसमणि' कविता में एक सुन्दर घटना का उल्लेख किया है — एक गरीब ब्राह्मण ने धन प्राप्ति की आशा में शिव की आराधना की। शिव ने कहा, "वृन्दावन चले जाओ। वहाँ सनातन गोस्वामी रहते हैं। उनसे धन पाने का उपाय पूछ लेना।" ब्राह्मण अपनी निर्धनता दूर करने की इच्छा से सनातन गोस्वामी के पास जा पहुँचा। सनातन ने कहा, "नदी के किनारे इस बालू में पारस मणि गड़ी हुई है, उसे निकालकर ले जाओ। इससे तुम्हारे पास अनन्त सम्पत्ति हो जायेगी और तुम्हारा अभाव दूर हो जायेगा।" ब्राह्मण ने तत्काल बालू को खोदकर पारस मणि को निकाल लिया। पारस मणि का स्पर्श होते ही उसके शरीर पर बँधी हुई ताबीज सोने की हो गयी। इस पर ब्राह्मण ने विस्मित होकर सोचा कि इतनी सम्पत्ति रहने पर भी सनातन गोस्वामी कैसे निर्विकार हैं! उन्होंने गोस्वामी के समीप जाकर कहा, "जिस अमूल्य धन के अधिकारी होने के कारण आप इस रत्न को भी तुच्छ मानते हैं, क्या उसी का कुछ भाग मुझे भी देने की कृपा करेंगे?" इतना कहकर ब्राह्मण ने उस मणि को नदी में फेंक दिया।

श्रीमद्भागवत (११/२/५३) में भी कहा गया है —

त्रिभुवन-विभव-हेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृति-रजितात्म-सुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लव-
निमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

— उसी को श्रेष्ठ भक्त कहा जाता है, जिसके पास त्रिभुवन का सारा ऐश्वर्य रहने पर एक क्षण के लिए भी ऐश्वर्य का आकर्षण उसके मन को ईश्वर के चरणों से च्युत नहीं करता। भगवान को पाकर वह इतना आनन्दविभोर हो जाता है कि ससार का सारा ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धन उसके समक्ष तुच्छ हो जाता है।

संसार के प्रति होनेवाला यह जो तुच्छता का बोध है, यह संसार में जल-भुनकर होनेवाला वैराग्य नहीं है, बल्कि ईश्वर के प्रति आकर्षण का आनन्द इतना तीव्र हो जाता है कि उसे बाकी सभी चीजें तुच्छ प्रतीत होने लगती हैं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं — "चुम्बक लोहे को खींचता है। लोहा एक जगह पड़ा है और उसके दोनों तरफ दो चुम्बक हैं — एक छोटा और दूसरा बड़ा। अब कौन-सा चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचने में समर्थ होगा? निश्चय ही बड़ा चुम्बक। भगवान सबसे बड़े चुम्बक हैं। उनका आकर्षण अदम्य है। उनका आकर्षण जब समझ में आ जाता है, तब संसार की कोई भी वस्तु हमारे मन को आकर्षित नहीं कर सकती, कोई भी चीज हमें उनके चरणों से विचलित नहीं कर सकती। इसी लक्षण से जाँच किया जा सकता है कि हम भगवत्पथ पर ठीक ठीक अग्रसर हो रहे हैं या नहीं। यदि हम भगवान को चाहते हैं और साथ ही ससार की सारी सुख-सम्पदा भी चाहते हैं, तो समझ लेना चाहिए कि हम सच्चे हृदय से भगवान को नहीं चाहते।

सामान्यतः लोग ईश्वर को इसलिए चाहते हैं कि वे उन्हें धन, सुख तथा ऐश्वर्य प्रदान करेंगे, परन्तु वे ईश्वर के लिए ही ईश्वर को नहीं चाहते। वस्तुतः धन-सम्पदा हमारी असली कामना है और ईश्वर उसकी प्राप्ति का माध्यम मात्र है। यदि उस ईश्वररूपी माध्यम से हमें वह सब न मिले, तो हम उन्हीं को छोड़ देंगे। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि भगवान केवल सुख-ही-सुख दें; दुख, निर्धनता तथा सकट आदि भी उन्हीं से प्राप्त होते हैं। सुख के समय भक्त उन्हें भूल जाता है और दुख के समय उनका स्मरण करता है। सामान्य लोग दुख के समय रोना-पीटना करते हैं, परन्तु भक्त दुख की घड़ियों में भगवान को और जोर से पकड़ता है। दुख के समय ही उसे भगवान का अधिक स्मरण होता है। कुन्ती का जीवन हमें

ज्ञात है। उनका सारा जीवन दुखमय ही रहा — पहले वे अपने पति के साथ वनों में घूमती रहीं और बाद में पति की मृत्यु हो जाने पर वे अपने बच्चों को लेकर हस्तिनापुर चली आयीं। बड़े होकर उनके पुत्रों को राज्य मिलने पर भी, कौरवों के षड्यत्र के कारण उन्हें राज्य से निर्वासित होना पड़ा। वे लोग निःसम्बल होकर माँ के साथ वनों में घूमते रहे। इस प्रकार कुन्ती का जीवन विपत्तियों में ही बीत रहा था। तभी पाण्डवों को दीर्घ वनवास तथा अज्ञातवास के लिए जाना पड़ा और उसके बाद ही कुरुक्षेत्र का युद्ध शुरू हो गया। युद्ध में विजय के बाद कृष्ण विदा लेने कुन्ती के पास आये। तब उन्होंने उनसे कहा, "भगवन्, जब मैं सुख में रहती हूँ, तब तुम्हें भूली रहती हूँ। विपत्ति के क्षणों में ही तुम्हारा स्मरण रहता है; अतः तुम मुझे दुख-कष्ट में ही रखना, ताकि मैं सर्वदा तुम्हें स्मरण करती रहूँ।" कितना विशाल हृदय होने पर ही व्यक्ति भगवान से इस प्रकार दुख माँग सकता है! हम यह न भूलें कि इस प्रकार की प्रार्थना कठिन हो सकती है, परन्तु आदर्श यही है।

हम मुख से तो ईश्वर का नाम लेते हैं और साथ ही जागतिक वस्तुओं को लेकर मत्त भी रहते हैं। हमें उन्हीं को चाहना होगा, क्योंकि वे ही सभी परिस्थितियों में हमारे परम हितकारी हैं, हमारे जीवन के सर्वस्व हैं, हमारी अन्तरात्मा हैं और हमारा परम स्वरूप हैं। व्यक्ति अपने आपसे ही सर्वाधिक प्रेम करता है अर्थात् आत्मा से प्रेम करता है। अपनी आत्मा प्रिय होने के कारण ही वह अन्य वस्तुओं से प्रेम करता है। असल में मनुष्य आतमा से ही प्रेम करता है, इसीलिए भगवान को आत्मा-की-आत्मा कहा गया है। हम उन्हें किसी अन्य कारण से नहीं, बल्कि वे हमारी आतमा हैं - इसी कारण से उनसे प्रेम करेंगे। इसी प्रेम को अहेतुकी भक्ति कहते हैं। श्रीरामकृष्ण बारम्बार इसी अहेतुकी भक्ति की बात कहते हैं। इस भक्ति में भक्त भगवान से कुछ नहीं चाहता, क्योंकि उसकी कोई अन्य इच्छा ही नहीं है। वह केवल अपना सब कुछ मिटाकर, भगवान को अपनी प्रीति तथा श्रद्धा अर्पित करके ही तृप्ति का बोध करता है। इसके बदले में वह कुछ चाहता नहीं है। इसी प्रकार की भक्ति ही श्रीरामकृष्ण का आदर्श था। हम यदि इतना न भी कर सकें, तो कम-से-कम एक बात अवश्य ही याद रखें कि भोग-विषयों की कामनाएँ कहीं हमारे जीवन के ईश्वर रूप केन्द्र-बिन्दु का विस्मरण न करा दें। दो-एक कामनाएँ रह सकती हैं। शरीर-मन भोग की इच्छा कर सकते हैं। ठीक है, वे करें, परन्तु ये कामनाएँ कहीं हमें इस प्रकार न आच्छन्न कर लें कि हम भगवान को भूलकर भोग और सासारिक ऐश्वर्य को ही जीवन का सार बना लें।

श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों की मुख्य बात यह है कि हम भगवान का नाम लें। जप कितने हजार हो या ध्यान कितने समय तक हो — यह महत्वपूर्ण नहीं है; बल्कि हमें यह देखना होगा कि क्या हम उस हार्दिक प्रेम के साथ ईश्वर को पुकार रहे हैं, जिसके समक्ष ससार का सारा आकर्षण तुच्छ हो जाता है।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि उनके प्रति प्रेम ससार अन्य समस्त प्रेमों को भुला देता है। अतः उनके प्रति हमारा कितना प्रेम हुआ है, इस पर विचार करके हमें साधन-पथ पर चलना होगा। उनका नाम लेते हुए बारम्बार मूर्छित होने से, जीवन भर बैठकर ध्यान करने से, साल-दर-साल लाखों जप करने से या तीर्थों में भ्रमण करने से भी काम नहीं होगा। तभी होगा, जब देखोगे कि वे हमारे हृदय को परिपूर्ण किये हुए हैं और उनके अतिरिक्त किसी व्यक्ति या वस्तु या विचार का कोई स्थान नहीं है। अपने हृदय का सारा प्रेम उन्हें देना होगा। उनके चरणों में स्वय को पूर्णरूपेण समर्पित करना होगा। यही श्रीरामकृष्ण-साधना की सार बात है।

यदि हम उन्हें आन्तरिक प्रेम कर सकें, तो हमारे मन में यह बोध आयेगा कि उनके द्वारा निर्मित इस सृष्टि के सभी प्राणियों में वे स्वयं ही विराजमान हैं। मैं प्रार्थना करता हूँ कि हम इसी आदर्श को अपने जीवन में उतार सकें, यही आदर्श हमारे जीवन को पूरी तौर से परिचालित करे, ताकि पूरा संसार और उसकी चीजें हमारे लिए तुच्छ हो जायँ। उनकी कृपा रहने पर सब कुछ सम्भव है। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि हम सभी के जीवन में इसी प्रकार का ईश्वरानुराग उत्पन्न हो।

मानस-रोगों से मुक्ति (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन इकतालीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

गुरु या वैद्य भी दो प्रकार के होते हैं, इसीलिए मानस-रोग के सन्दर्भ में एक शब्द और जोड़ दिया गया – 'सद्‌गुरु वैद्य'। इसका अभिप्राय यह है कि एक वैद्य या चिकित्सक तो वे हैं, जो रोगी को स्वस्थ करना चाहते हैं और कुछ ऐसे भी वैद्य या चिकित्सक होते हैं, जो रोगी की अस्वस्थता का अधिकाधिक लाभ उठाना चाहते हैं। कुछ ऐसे चिकित्सक सुनने में आते हैं, जो दवा देकर रोग को कुछ घटा तो देते हैं, पर रोगी को पूरा स्वस्थ नहीं होने देते और इस प्रकार लम्बे समय तक चिकित्सा चलती रहती है। ऐसे चिकित्सक का उद्देश्य रोगी को स्वस्थ करना नहीं, वरन् रोगी से अधिकाधिक लाभ उठाना होता है। इसीलिए यहाँ केवल गुरु शब्द का प्रयोग न करके उसके साथ एक शब्द 'सत्' और जोड़ा गया। जो चिकित्सक सचमुच यह चाहता है कि रोगी जल्दी स्वस्थ हो जाय, वह चिकित्सक महान् है, वन्दनीय है और जो रोगी को अवस्थ बनाये रखकर उससे अधिकाधिक लाभ लेने की चेष्टा करता है, वह चिकित्सक निन्दनोय है। उनकी निन्दा में संस्कृत साहित्य में बड़े बड़े वाक्य कह दिये गये। ऐसे ही किसी धन हरण करनेवाले वैद्य को देखकर वह प्रसिद्ध श्लोक कहा गया, जिसमें उन्हें 'यमराज के बड़े भाई' कह दिया गया है –

वैद्यराज नमस्तुभ्यं यम-ज्येष्ठ-सहोदरः।
यमस्तु हरते प्राणः त्वं तु प्राण-धनानि च ।।

वैद्य ने पूछा – बड़े भाई क्यों कहा? बोले – इसलिए कि यमराज तो केवल प्राण लेते है, पर आप तो प्राण और धन – दोनों का हरण कर लेते हैं। ऐसे भी चिकित्सक होते हैं और ऐसे गुरु भी हो सकते हैं –

हरइ शिष्य-धन शोक न हरई ।
सो गुरु घोर नरक मँह परई ।।

इस प्रकार के गुरु का भी वर्णन रामायण में किया गया है। 'मानस' के बालकाण्ड में वर्णन आता है – प्रतापभानु वन में भटकते हुए किसी वेशधारी मुनि के आश्रम में पहुँच गये। प्रतापभानु के मन में कामनाओं का ज्वर है, जिससे उन्हें ठण्ढ लग रही है। वे वन में भूखे-प्यासे भटक रहे हैं। सहसा उन्हें एक आश्रम दिखाई दिया, जहाँ एक महात्मा बैठे हुए हैं। प्रतापभानु को लगा कि ये कोई बड़े अच्छे महात्मा हैं। पहले तो उनसे पहचानने में भूल हुई। क्या भूल हुई –

देखि सुबेष महामुनि जाना ।। १/१५८/७

सुन्दर वेश देखकर महामुनि मान लिया। वैसे महात्माओं और आश्रमों के सन्दर्भ में वेश का भी वर्णन किया गया है, वैरागी तथा वैष्णव परम्परा में भी वेश का वर्णन किया गया है और उसका भी यदि सदुपयोग हो, तो बड़ा महत्व है। महत्व उसके सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर करता है। वस्तुत: वेश तो व्यक्ति के लिए निरन्तर चेतावनी है। जब कोई व्यक्ति कोई वेश धारण करता है, तो उसका अभिप्राय यह है कि उसको पग पग पर सावधान रहना है कि उसने जब यह वेश धारण किया है, तो उसका आचरण भी उसके अनुकूल होना चाहिए। वेश तो व्यक्ति को निरन्तर मर्यादित रखने का एक साधन है। गोस्वामी जी 'कवितावली' में अपने आप से कहते हैं और अपने को निमित्त बनाकर सभी से कहते हैं –

करि हंस को बेषु बड़ो सबसों
तजि दे बक-बायस की करनी ।। ७/३२

– अरे मन, जब तुमने हंस का वेश बना लिया है, तो अब तुम बगुले और कौए का काम करना बन्द कर दो। यदि तुम हंस का वेश न बनाते और बगुले जैसे आचरण करते, तो इसमें आश्चर्य नहीं था; परन्तु जब तुमने हंस का वेश बनाया है, तो इस हंस-वेश की रक्षा करो। वेश का यही उद्देश्य है।

पर वेश तो बहिरंग साधन है। महापुरुष की जो साधुता है, वह तो उसके स्वभाव में ही विद्यमान है, वेश तो उसकी रक्षा का एक साधन मात्र है। व्यक्ति यदि वेश को ही लक्षण मान ले और कोई निर्णय ले ले, तो यह तो वैसा ही हुआ कि यदि हम डॉक्टर या वैद्य खोजने निकलें और देखें कि सामने एक बहुत बड़ा साइनबोर्ड लगा हुआ है। यदि उस साइनबोर्ड को ही देखकर हम डॉक्टर की योग्यता का निर्णय करेंगे, तो कभी कोई बड़ा संकट खड़ा हो सकता है। क्योंकि यह जरूरी नहीं कि जिस चिकित्सक ने बहुत बड़ा साइनबोर्ड लगा रखा है, वह कोई बड़ा योग्य चिकित्सक भी हो। इसी प्रकार केवल वेश ही सन्तत्व नहीं है, यह तो उसका एक अंश मात्र है। इसीलिए गोस्वामीजी ने प्रतापभानु के प्रसंग में कहा –

देखि सुवेष महामुनि जाना ।। १/१५९/७

प्रतापभानु की सबसे बड़ी भूल यही थी कि उसने वेश को ही सबसे बड़ा लक्षण मान लिया। प्रतापभानु ने देखा कि मुनि

जंगल में अकेले रहते हैं, इनसे बढ़कर सद्‌गुरु और कौन होगा? उनको प्रणाम किया और दोनों में बातचीत शुरू हुई। मुनि ने पूछा – क्या तुम्हारे मन में कोई कामना है? कामना तो प्रतापभानु के मन में भरी पड़ी थी। उसने कहा – हाँ महाराज, यदि आप प्रसन्न हैं, तो मेरे मन में ये ये इच्छाएँ हैं –

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एक छत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ। १/१६५

मुनि उसकी कामनाओं को सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ, बोला – ऐसा ही होगा। और उसने किया क्या? उसने प्रतापभानु की कामनाओं को और भी उकसाकर अपनी ओर मोड़ लिया। उसने कहा – यद्यपि तुम्हारी कामनाओं को पूरा करना बड़ा कठिन है, पर तुम्हारी सद्‌भावना देखकर मेरे मन में दया आ गई है, अब यदि मैं तुम जैसे श्रद्धालु पर कृपा न करूँ –

दारुन दोष घटइ अति मोही ।।१/१६२/४

तो मुझे बड़ा दोष लगेगा, इसलिए बेटा, घबराओ मत, मैं तुम्हारा कल्याण करूँगा। कैसे करेंगे? बोले – कल्याण ऐसे होगा कि मैं भोजन बनाऊँगा, ऐसे व्यंजन बनाऊँगा, जो वशीकरण मंत्र से अभिषिक्त होंगे। तुम ऋषि-मुनियों तथा ब्राह्मणों को उस भोजन के लिये आमंत्रित करो। वे लोग भोजन करके वशीभूत हो जायेंगे और तुम्हें आशीर्वाद देंगे कि अजर-अमर हो जाओ, बस फिर सब हो जायगा। राजा ने पूछा – महाराज, मैं आपका परिचय किस रूप में दूँगा। इस पर उसके मुँह से बहुत बढ़िया बात निकली। उसने कहा –

तुम्हरे उपरोहित कहुँ राया।
हरि आनब मैं करि निज माया ।। १/१६९/४

मैं तुम्हारे गुरु को अपहरण करके ले आऊँगा और मैं स्वयं तुम्हारे पुरोहित का रूप बनाकर तुम्हारा सब काम बना दूँगा –

मैं धरि तासु बेषु सुनु राजा।
सब बिधि तोर सँवरब काजा ।। १/१६९/६

इसका अर्थ है कि जो वास्तव मे गुरु है, उसका अपहरण करके, स्वयं नकली गुरु बनकर प्रतापभानु का कल्याण करने की योजना है। कहते हैं – सब प्रकार से तुम्हारी कामनाएँ पूर्ण कर दूँगा। प्रतापभानु बड़े प्रभावित हुए। सोचने लगे – जो मेरी इतनी बड़ी बड़ी सारी कामनाएँ पूरी कर दे, उससे बड़ा महापुरुष कौन होगा? राजा हाथ जोड़कर बोले – महाराज, अब मै घर लौट जाना चाहता हूँ। महल में लोग मेरी चिन्ता कर रहे होंगे। मुनि बोले – क्या कहा? इतनी अँधेरी रात, घना जंगल! मार्ग दिखाई नहीं देगा, भटक जाओगे, अतः तुम रात में यही विश्राम करो, सुबह होने पर चले जाना –

निसा घोर गंभीर बन, पंथ न सुनहु सुजान।
बसहु आजु अस जानि तुम्ह जाएहु होत बिहान॥ १.१५९

राजा का मन तो अपने महल में पहुँचने के लिए उतावला हो रहा था, पर विवश होकर उसे रुकना पड़ा। थका हुआ तो था ही, सो गया। मुनि ने सोचा, इसे थोड़ा चमत्कार दिखाना चाहिए। मुनि ने अपने मित्र कालकेतु को बुलाया। कालकेतु राक्षस था और बड़ा चमत्कारी था। चमत्कार के संदर्भ में यह बात बड़ी समझने योग्य है।

चमत्कार का वर्णन शास्त्रों में बहुत आया है। महापुरुषों के जीवन में धर्म के सन्दर्भ में चमत्कार की बात बार बार कही गयी है। इन चमत्कारों की बात अस्वीकार नहीं करनी चाहिए, पर इसमें समझने की बात यह है कि ये चमत्कार अपने आपमें पूर्णता के लक्षण नहीं हैं, क्योंकि ये चमत्कार श्रेष्ठ व्यक्ति में भी आ सकते हैं और बुरे व्यक्ति में भी। महत्व चमत्कार का नहीं, बल्कि उस चमत्कार के उपयोग का है। उसके उपयोग को देखकर निर्णय करना होगा कि उसकी सार्थकता क्या है।

यहाँ पर प्रतापभानु के सन्दर्भ में उस मुनि ने चमत्कार का क्या उपयोग किया? उसने कालकेतु से ऐसा चमत्कार दिखाने को कहा, जिससे इनकी श्रद्धा अपने पर बढ़ जाय। प्रतापभानु सो रहा था। कालकेतु उसे उसी अवस्था में उठाकर उसके नगर में ले गया और उसके महल में जहाँ उसकी रानी सो रही थी, वहीं उसकी बगल में सुला दिया। सुबह जब प्रतापभानु की नींद खुली, तो उसने देखा कि वह राजमहल में अपनी रानी की बगल में सो रहा है। वह इतना चमत्कृत हुआ कि उसे उस पर पूरा विश्वास हो गया। पर इसमें संकेत क्या है? यह कि केवल पहुँचा देने से ही चमत्कार प्रशंसनीय नहीं हो जायेगा? यह भी देखना होगा कि उसने पहुँचा कहाँ दिया है।

रामायण में ऐसे दो प्रसंग आते हैं जहाँ सोये हुए व्यक्ति को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर पहुँचा दिया गया। एक तो सुषेण वैद्य हैं, जो लंका में सो रहे थे और हनुमान जी उन्हें उठा लाए और दूसरे हैं प्रतापभानु, जिसे कालकेतु उठा ले गया। पर दोनों में अन्तर क्या है? एक पहुँच गये भगवान के चरणों में और दूसरा रानी के पलंग पर। हनुमान जी ने सुषेण वैद्य को उठाकर भगवान के चरणों में और कालकेतु ने प्रतापभानु को उसकी रानी के पलंग पर पहुँचा दिया।

जब प्रतापभानु की नींद खुली, तो उसने क्या देखा? देखना तो यह था कि चमत्कार ने उसे राम के पास पहुँचा दिया या काम के पास? महत्व तो इस बात का है कि हमारे जीवन में चमत्कार का परिणाम क्या हुआ? यदि उसने राम के पास पहुँचा दिया, तो बड़ी अच्छी बात है। हो सकता है कि कोई महापुरुष कृपा करके ऐसा कोई चमत्कार करके राम के पास पहुँचा दे, लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं।

सोये सोये भगवान को पाना, मानो यह साधना के अभिमान को नष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त है। यह नहीं मान लेना चाहिए कि यदि हम साधक हैं, तो केवल हम ही ईश्वर

को पाने के अधिकारी हैं । इसीलिए रामायण तथा अन्य ग्रन्थों में सन्तों की जीवनी के सन्दर्भ मे ऐसे पात्रों का भी दृष्टान्त आता है, जिनके जीवन में प्रत्यक्ष रूप से कोई साधना नहीं दिखाई देती, पर ऐसा लगता है कि उन्होंने केवल कृपा मात्र से भगवान को पा लिया, जैसा कि हम सुषेण वैद्य के जीवन में देखते है । सुषेण वैद्य के सन्दर्भ में तो और भी एक बड़े आश्चर्य की बात है । हनुमान जी जब उन्हें लाने गये, तो होना यह चाहिए था कि हनुमान जी सोये हुए वैद्यजी को जगाते और अपने साथ ले आते; परन्तु जगाना तो दूर, हनुमान जी उन्हें पूरे घर समेत ही उठा लाए । किसी ने पूछा – महाराज, आपने वैद्यजी को जगाया क्यों नही, सोते हुए को उठा लाए? फिर पूरे घर को ही क्यों उठा लाए? हनुमान जी बोले, भाई, जो व्यक्ति भगवान को पाना चाहता है, उसे तो जागना भी पड़ता है और घर भी छोड़ना पड़ता है । पर ये सुषेण वैद्य तो भगवान को पाना नही चाहते थे, बल्कि भगवान ही इन्हे पाना चाहते थे, अत: इन्हें न तो जागना पड़ा और न ही घर छोड़ना पड़ा । जब भगवान ही किसी को चाहते हैं, तो मैं क्या करूँ? एक नन्हे शिशु के नींद में खोये रहने पर भी माँ उसे प्यार करती है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि बड़े बालक के मन में भी माँ का प्यार पाने के लिए दिन-रात सोये रहने की वृत्ति आ जाय, तो यह कोई बुद्धिमानी की बात नहीं होगी । दृष्टान्त का तात्पर्य है कि ऐसा भी होता है । नियम से परे जब कोई बात हो जाती है, तो उसे हम चमत्कार कहते हैं । ऐसे चमत्कार होते हैं और उसका प्रभाव भी पड़ता है, पर चमत्कार की सार्थकता इस बात में है कि वह हमें कहाँ ले जा रहा है?

गुरु की परख क्या है? सच्चा गुरु वह है, जो शिष्य को भगवान के चरणों में पहुँचा दे, उसके मन को भगवान की ओर लगा दे । पर यहाँ क्या होता है? कपट मुनि के चमत्कार ने तो प्रतापभानु को महल में पहुँचाकर उन्हें रानी के बगल में सुला दिया । और तब क्या हुआ –

कपटी मुनि पद रह मति लीनी ।। १/१७२/७

उस कपट मुनि का चमत्कार देखकर प्रतापभानु का मन उसके चरणों में ऐसा लीन हो गया कि बस अब कैसे दिन बीतें, कैसे ये हमारे गुरु हटें, चमत्कारवाले गुरु आवें और मेरी कामना पूर्ण हो । पर हो क्या गया? गोस्वामी जी ने आगे चल कर कहा – हंस बनाते बनाते कौवा बना दिया –

बिरचत हंस काग किय जेही ।। १/१७५/२

दो शैलियाँ हैं – एक हंस की और दूसरी कौवे की । अब सृष्टि में तो जो हंस हैं, वे कौवे नही बन सकते और जो कौवे है, वे हंस नहीं बन सकते; परन्तु मानव जीवन में विचित्रता यह है कि बहुत-से हंस-वृत्तिवाले भी कौवा और बहुत-से कौवा-वृत्तिवाले भी हंस बन जाते हैं । यह मनुष्य के जीवन में सम्भव है । यहाँ पर मानो प्रतापभानु के जीवन में हंसत्व था, पर चमत्कार के फेर में पड़कर अन्त में उसे राक्षस बन जाना पड़ा । इसका अभिप्राय यह है कि चमत्कार का कुपथ्य पाते ही उसके छिपे हुए रोग उभर आये और उसने जिस वैद्य और चिकित्सा का चुनाव किया, वह तो रोग को और भी अधिक असाध्य बना देने और अन्त में उसका सर्वनाश कर देनेवाला सिद्ध हुआ । उसने चमत्कार को ही एक सद्गुरु या सद्वैद्य की कसौटी मान ली और उस कपटी व्यक्ति का गुरु के रूप में वरण कर लिया, जो साधु का वेश बनाकर प्रतापभानु का राज्य छीन लेना चाहता था । इसमें उसे सफलता भी मिली और प्रतापभानु का सर्वनाश हो गया । कामनाओं या चमत्कार को ऐसा रूप दे देना एक ऐसे वैद्य का कार्य है, जो कपटमुनि के समान स्वार्थी है; लेकिन नारद के समान जो महान् सद्गुरु हैं, वे कामना को तप की ओर मोड़ देते हैं । दशरथ जी के मन में पुत्र की कामना उत्पन्न हुई –

एक बार भूपति मन माहीं ।
भै गलानि मोरें सुत नाहीं ।। १/१८९/१

महाराज दशरथ रोगी हैं या नहीं? यदि उनमें पुत्रैषणा है, तो वह रोग ही है । उसे लेकर वे गुरु वशिष्ठ के पास गये –

गुरु गृह गयउ तुरत महिपाला ।
चरन लागि करि बिनय बिसाला ।।
निज दुख सुख सब गुरहि सुनायउ । १/१८९/२-३

अपनी सारी समस्या गुरुजी के सामने खोलकर रख दी । अब यहाँ पर गुरु वशिष्ठ की महानता क्या है? गुरु वशिष्ठ त्रिकालज्ञ हैं । वे जानते हैं कि दशरथ पूर्वजन्म में मनु थे । उस समय भगवान ने उन्हें दर्शन देकर यह वरदान दिया था कि जब तुम दशरथ के रूप में जन्म लोगे, तब मैं तुम्हारे पुत्र के रूप में जन्म लूँगा । वशिष्ठ जी चाहते तो महाराज दशरथ को यह बता सकते थे, लेकिन उन्होंने नहीं बताया । उन्होंने दशरथ जी की कामना को यज्ञ की ओर मोड़ दिया । कह दिया – तुम्हें पुत्र तो मिलेंगे, पर उसके लिए यज्ञ करना पड़ेगा –

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी ।
त्रिभुवन बिदित भगत भय हारी ।।
सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा ।
पुत्र काम सुभ जग्य करावा ।। १/१८९/४-५

पुत्र तो बिना यज्ञ के भी मिल सकता था, मिलता ही, लेकिन गुरु ने यज्ञ के द्वारा पुत्र मिलाया, इसका अभिप्राय क्या है? कामना को एक सही दिशा में मोड़ने की यह एक चतुर चेष्टा है । मन को कामनाओं से ऊपर उठाने की यह एक पद्धति है । यज्ञ से चार पुत्र मिल गये । जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करते, पुत्र तो उन्हें भी मिल जाते हैं । यह कोई जरुरी नहीं कि यज्ञ करने से ही पुत्र होंगे । लेकिन एक अन्तर पड़ गया – जब विश्वामित्र दशरथ से उनके दो पुत्रों को माँगने आये, तब दशरथ को अपने पुत्रों के प्रति ममता आ गयी । वे बोले –

(म)हाराज, मैं राम को तो नहीं दे सकूँगा –

मागहु भूमि धेनु धन कोसा ।
सर्बस देउँ आजु सहरोसा ।।
देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं ।
सोउ मुनि देउँ निमिष एक माही ।।
सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाई ।
राम देत नहिं बनइ गोसाईं ।। १/२०८/३-५

अब पता चला कि गुरु वशिष्ठ कितने दूरदर्शी हैं, उन्होंने (कि)तनी दूर तक की सोच ली थी ।

तब बसिष्ठ बहुबिधि समुझावा ।।१/२०८/८

वशिष्ठ जी ने महाराज दशरथ को तत्काल टोका – "क्या (क)ह रहे हैं आप? क्या आप विश्वामित्र को अपने पुत्र नहीं (दें)गे?" वैसे तो सुनकर यह बात अटपटी-सी लगती है । कोई (व्य)क्ति अपना बेटा-बेटी या अपनी सम्पत्ति किसी को दे या न (दे), वह स्वतन्त्र है । पर गुरु वशिष्ठ ने तुरन्त याद दिलाया, "तुम यह नहीं कह सकते कि तुमने इन पुत्रों को अपने पुरुषार्थ (से) पाया है । तुम्हें याद होगा, तुम पुत्र के अभाव से पीड़ित (हो)कर मेरे पास आये थे और तुम यह जानते हो कि पुत्र तुम्हें (कै)से मिले थे ।" दशरथ जी बोले – हाँ महाराज, शृंगी ऋषि ने यज्ञ कराया और उस यज्ञ से चार पुत्र मिले थे । – राजन्, जब (ये) चार पुत्र तुम्हें यज्ञ की कृपा से मिले हैं और आज जब यज्ञ पर संकट पड़ा हुआ है, तो आप दो पुत्र देने में भी कृपणता दिखा रहे हैं? चार पाकर दो देने में भी कृपणता? यह कैसी बात है? तुम्हें तो यज्ञ के लिए पुत्र देने ही होंगे ।

गुरु वशिष्ठ ने उनके जीवन को सही दिशा में मोड़ दिया । दशरथ जी के मन में पुत्र की कामना थी । उस कामना को निष्कामता की दिशा में मोड़ दिया । राम उनके पुत्र थे, पुत्र के प्रति उनके मन में ममता थी । उस ममता को उन्होंने यज्ञ की दिशा में, त्याग और सेवा की दिशा में मोड़ दिया । अब राम केवल दशरथ के नहीं रह गये । गोस्वामी जी ने लिखा कि अन्त में गुरु वशिष्ठ के शब्दों से दशरथ जी इतने प्रभावित हो गये कि उन्होंने तत्काल राम और लक्ष्मण को बुलाया और विश्वामित्र के हाथ में सौंपते हुए बोले –

मेरे प्रान नाथ सुत दोउ ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ ।। १/२०८/१०

अभी तक मैं यही मानकर चलता रहा कि इनका पिता मैं हूँ, लेकिन अब तो मैं कहूँगा कि आप ही इनके पिता हैं । हुआ भी यही । यज्ञ पूरा हो जाने के बाद विश्वामित्र जी ने दशरथ जी के पुत्रो को लौटाया नहीं । क्यों? इसके दो कारण हो सकते हैं – एक तो यह कि दशरथ जी ने केवल राम-लक्ष्मण को ही नही, विश्वामित्र जी को अपना पितृत्व भी दे दिया है । विश्वामित्र जी ने सोचा कि जब मैं पिता हूँ तो इनके बारे में निर्णय करने में मैं स्वतंत्र हूँ । उन्होंने श्रीराम से कहा कि अब जनकपुर चलना है । क्यों? बोले – वहाँ भी यज्ञ हो रहा है । तुम यज्ञ के पुत्र हो, इसलिए जहाँ जहाँ यज्ञ हो रहा है, वहाँ वहाँ तुम्हें जाना ही है । परिणाम क्या हुआ? पुत्र की कामना को सद्गुरु ने संसार के कल्याण की दिशा में मोड़ दिया ।

हनुमान जी महान् सद्गुरु है । उन्होंने सुग्रीव की सारी कामना को भगवान की ओर मोड़ दिया, उन्हें भगवान से मिलाकर उनकी सारी समस्याओं का समाधान कर दिया । बालि का वध हो गया, चिन्ता दूर हो गई, भय दूर हो गया, और पत्नी तथा राज्य पाकर उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो गयीं । कितनी बड़ी कृपा है सद्गुरु की? सुग्रीव जैसे व्यक्ति, जिनके जीवन में भगवान की स्मृति ही नहीं थी, उन्हें भगवान की ओर मोड़कर भगवान से मिला दिया यही तो हनुमान जी की विशेषता है । वे चाहते तो स्वयं ही सुग्रीव की कामनाओं को पूर्ण करके उनके मन को अपनी ओर खींच लेते, पर नहीं, उन्होंने सुग्रीव को भगवान की ओर मोड़ दिया, उनसे मिला दिया, मित्रता करा दी और सुग्रीव सब कुछ पा गये । इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के मन को अपनी ओर न मोड़कर भगवान की ओर मोड़ दें – यही सद्गुरु की विशेषता है ।

जीव पर यह सद्गुरु, सन्त और ईश्वर की यह कृपा है । परन्तु कृपा का केवल यही एक रूप नहीं है; एक अन्य भी रूप है और वह रूप भी अब सामने आया । सुग्रीव के प्रति हनुमान जी और भगवान – दोनों की एक ही भूमिका दिखाई दे रही है । जैसे माँ ने बालक को स्नेहवश उसकी तृप्ति के लिये मिठाई दी, परन्तु यदि बालक को मिठाई से ही रोग हो जाय, तब तो माँ को सोचना पड़ेगा कि अब तो बालक को मिठाई के स्थान पर दवाई देनी पड़ेगी । सुग्रीव के जीवन में यही हुआ । भगवान ने जो उन पर कृपा की तो कृपा के साथ साथ उन्होंने यह भी कह दिया कि – मित्र, तुम अंगद के साथ मिलकर राज्य करो, पर यह न भूल जाना कि तुम्हें सीताजी का पता लगाना है –

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू ।
संतत हृदय धरेहु मम काजू ।। ४/१२/९

भगवान का अभिप्राय क्या है? भगवान ने सुग्रीव को याद दिला दिया कि जब मैं तुम्हारा मित्र हूँ और जब मैंने तुम्हारी इच्छाओं को पूर्ण कर दिया, तो तुम्हारे मन में भी तो यह बात आनी चाहिए कि जिन प्रभु ने मेरी इच्छाओं को पूर्ण कर दिया, उनके प्रति मेरा भी तो कुछ कर्तव्य है । लेकिन सुग्रीव उस कृपा के रस में, मिठास में ऐसे डूबे कि भगवान को ही भूल गये । तब कृपा का दूसरा रूप सामने आया – भगवान की आँखों में लाली आ गयी, भौंहें टेढ़ी हो गयीं । यह देखकर लक्ष्मण जी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि प्रभु की मुद्रा में आज

यह नया भाव कैसे दिख रहा है। लक्ष्मण जी ने जिज्ञासा व्यक्त की – महाराज, क्या बात है? प्रभु ने कहा – आज सुग्रीव की याद आ रही है। – महाराज, सुग्रीव तो आपके मित्र हैं। बोले – यही तो सोच रहा हूँ। – क्या? बोले – 'सुग्रीवहुँ'। यही शब्द है प्रभु का। वे केवल सुग्रीव नहीं बोले, उन्होंने कहा, सुग्रीवहुँ अर्थात् 'सुग्रीव ने भी'। इसका अभिप्राय यह है कि जिसे मैंने कुछ नहीं दिया, वह यदि मुझे भूल जाता, तो मैं उसे उलाहना नहीं देता, पर जिसे मैंने सब कुछ दिया, वह भी मुझे भूल जाय, तो उसके लिए क्या कहें! यह बात केवल सुग्रीव के लिए नहीं, हम-आप और सबके लिए है। इस 'सुग्रीवहुँ' शब्द को हमें भी याद रखना होगा। ईश्वर ने हमें शरीर दिया है, सुख-सुविधा की वस्तुएँ दी हैं – सब कुछ दिया है। इसीलिए भगवान राम बड़े आश्चर्यपूर्वक कहते हैं –

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी।। ४/१८/४

राज्य, स्त्री, कोष, नगर पाकर तो उसे मेरी और भी याद आनी चाहिए थी कि यह सब मेरे पास नहीं थे, प्रभु ने दिया है। स्त्री मुझसे छिन गयी थी, प्रभु की कृपा से ही वापस मिली – यदि ऐसा सोचता, तो उसे मेरी और अधिक याद आती। जितनी ही भगवान की कृपालुता पर दृष्टि जायेगी, उतनी ही अधिक उनकी याद आयेगी – 'प्रभु मूरत कृपामयी है'।

भगवान शिव ने पार्वती जी से कहा कि प्रभु का स्वभाव बड़ा कोमल है। पार्वती जी बोली – "महाराज, इसका अधिक प्रचार मत कीजिए। यदि आप यह कह देंगे कि भगवान बड़े क्षमाशील है, बड़े कृपालु हैं, तो लोग इसे मनमाना आचरण करने की छूट मान लेंगे। कहेंगे – चलो, अच्छा है, जब इतने क्षमाशील, इतने कृपालु है, तो हम चाहे जो करें, वे क्षमा कर देंगे। कृपा तो उनका स्वभाव ही है। वह तो हम पर बनी ही रहेगी।" शंकर जी बोले, "पार्वती, इसकी एक कसौटी है और वह यह कि जो सचमुच ही भगवान की कृपा को समझ लेगा, वह बुराई की ओर कभी जायेगा ही नहीं। जो उनके स्वभाव को जान लेता है, वह तो एक क्षण के लिए भी उन्हें नहीं भूल पाता; निरन्तर उनकी याद में डूबा रहना चाहता है –

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना।
ताहि भजनु तजि भाव न आना।।५/३४/३

परन्तु जहाँ उनके इस मीठे स्वभाव का दुरुपयोग हुआ, वहाँ उन्हें तत्काल दूसरा निर्णय लेना पड़ता है –

जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली।। ४/१८/५

जिस बाण से बालि का वध किया था, उसी बाण से अब सुग्रीव का वध करूँगा। इसीलिए भक्तों ने थोड़ा-सा इस पक्ष को भी रखा है। दोनों पक्ष हैं – प्रभु को कृपालु भी बताया, पर साथ ही कहीं कहीं थोड़ी चेतावनी भी दे दी। गरुड़ जी ने कागभुशुण्डि से पूछा – महाराज, प्रभु स्वभाव कैसा है? वे बोले – क्या कहें, समझ में नहीं आता! कभी तो वे वज्र से भी कठोर हो जाते हैं और कभी फूल से भी कोमल हो जाते हैं –

कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमह चाहि।
चित्त खगेस राम कर समुझि परइ कहु काहि।। ७/१९

भगवान कहते हैं – सुग्रीव को मैं कल उसी बाण से मारूँगा, जिससे बालि को मारा था। लक्ष्मण जी बड़े प्रसन्न हुए। यह भूमिका तो उन्हें बड़ी प्रिय है। उन्होंने तत्काल कहा – इसे क्रियान्वित करने का आदेश तो मुझे ही दीजिये, मैं अभी जाकर उसे मार देता हूँ। यह कहकर लक्ष्मण जी जब चले, तो भगवान बोले – "वैद्य रोगी को मारता थोड़े ही है, वह तो रोग को मारता है। भाई, मैं जो कह रहा हूँ, वह सुग्रीव को मारने के लिए थोड़े ही कह रहा हूँ।" – लेकिन आपने जो सुग्रीव का नाम लिया। बोले – "नहीं, नहीं, यह बात नहीं है, उसमें जो दोष आ गये हैं, उन्हें दूर करना है। अब तुम एक काम करो, डर के मारे ही वह मेरा भक्त बना था, डर छूट गया तो मुझे भूल गया है। अब फिर से थोड़ा-सा डर पैदा कर दो, वह फिर से भक्त बन जायेगा। बस, हो गया और क्या?" लक्ष्मण जी ने कहा – ठीक है महाराज, मैं अभी जाता हूँ। प्रभु ने लक्ष्मण जी का हाथ पकड़ लिया, बोले – देखो, जरा सावधानी से डराना। – क्यों? – इसलिए कि वह बड़ा डरपोक है और भगोड़ा भी है। कहीं ऐसा न हो कि डर के मारे कहीं और भाग खड़ा हो –

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।। ४/१८

लक्ष्मण जी चले, और उधर हनुमान जी क्या कर रहे हैं? जिन्होंने सुग्रीव को भगवान से मिलाया, राज्य दिलाया, उन महान संत ने क्या किया?

इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा।
राम काजु सुग्रीवँ बिसारा।।
निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा।
चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा।।
सुनि सुग्रीव परम भय माना।
बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना।। ४/१९/१-३

भगवान ने लक्ष्मण जी को जिस कार्य हेतु भेजा, वही भूमिका हनुमान जी की भी है। हनुमान जी ने पहले ही सुग्रीव को ऐसा डराया कि वे भय से काँप उठे और तभी लक्ष्मण जी भी आ गये। हनुमान जी और लक्ष्मण जी के साथ सुग्रीव प्रभु के पास लौटकर आते हैं।

भगवान की कृपा का एक रूप तो यह है कि वे सुग्रीव को भय और चिन्ता से मुक्त करके राज्य-ऐश्वर्य तथा सम्पदा प्रदान

करते हैं, परन्तु जब वे कठोर बनकर लक्ष्मण जी और हनुमान जी को भेजकर भय की सृष्टि करते हैं, तो यह भी उनकी कृपा का एक रूप हैं । कृपा का एक रूप मधुर है, तो दूसरा रूप कड़वी औषधि के रूप में भी है ।

सही अर्थों में कृपा की व्याख्या क्या है? यदि हम भगवान और सद्‌गुरु की कृपा के सन्दर्भ मं विचार करके देखें, तो ज्यों ज्यो हम कृपा की ओर आगे बढ़ते जायेंगे, त्यों त्यों अन्त में यही लगेगा कि भगवान की सबसे बड़ी कृपा तब है, जब हमारे जीवन के सारे दोष मिट जायँ । प्रह्लाद जी के जीवन में आता है कि जब भगवान ने हिरण्यकशिपु का वध कर दिया और प्रह्लाद को गोद में लेकर कहने लगे – प्रह्लाद, तुम मुझसे कुछ माँगो । प्रह्लाद बोले – महाराज, मुझे कुछ नहीं चाहिए। भगवान ने कहा – अच्छा, मेरे सन्तोष के लिये कुछ माँगो । प्रह्लाद ने फिर कहा – नहीं महाराज, मुझे कुछ नहीं चाहिए । परन्तु भगवान ने जब तीसरी बार कहा तो प्रह्लाद समझ गये और कहा – महाराज, अब मैं अवश्य माँगूँगा । लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ । अचानक प्रह्लाद बदल कैसे गये? क्या ये यही चाहते थे कि भगवान जब बार बार कहें तब मैं माँगूँ? दो बार 'नहीं' कर दिया और जब वे तीसरी बार कह रहे हैं, तो कहते हैं – हाँ, अवश्य माँगूँगा । भगवान ने कहा – माँगो, अवश्य माँगो, पर पहले यह बताओ कि पहले क्यों कहा कि कुछ नहीं चाहिए? प्रह्लाद बोले – "महाराज, मैं तो यही समझ रहा था कि मेरे मन में कोई कामना नहीं है, पर अब समझ गया कि कामना बाहर प्रकट हो जाती है तो दिखाई देती है, परन्तु जैसे रोग भीतर हो और व्यक्ति को दिखाई न दे, उसके लक्षण प्रकट न हो तो व्यक्ति समझता है कि उसे कोई रोग नहीं है; वैसे ही मैं समझ रहा था कि मुझमें कोई कामना नहीं है, लेकिन जब आप बार बार माँगने को कहने लगे, तो मैं समझ गया कि आप तो अन्तर्यामी हैं, मेरे भीतर अवश्य कहीं-न-कहीं कामना का बीज छिपा हुआ है, जिसे मैं देख नहीं पा रहा हूँ । प्रभो, यह जो मेरे मन में कामना का बीज छिपा हुआ है, उसे कृपा करके नष्ट कर दीजिए ।" कामना का बीज भी न रहे – इसका अभिप्राय यह है कि कृपा का एक रूप तो वह है जो कामना की पूर्ति करता है और जब कामना पूर्ण हो गयी, पूरी तरह मिट गयी तब? हे दीनदयालु – आपकी कृपा से अब मुझे कुछ भी नहीं चाहिए –

अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे ।
दीनदयाल अनुग्रह तोरें ।। २/१०२/७

यही सामंजस्य है । मानस-रोग के सन्दर्भ में भी इसी सामंजस्य को प्रस्तुत किया गया है । ❖ (क्रमशः) ❖

मनुष्य स्वयं अपना भाग्य-निर्माता है

अपने निज के दोष दूसरे के मत्थे मढ़ना मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता है । हम अपने दोष नहीं देखते । जब तक हम दूसरों पर दोष लाद सकते हैं, तब तक हम अपनी दुर्बलताएँ, अपनी गल्तियाँ मानने को राजी नही होते । साधारणतः मनुष्य अपने दोषों और भूलों को पड़ोसियों पर लादना चाहता है; यह न जमा, तो उन सबको ईश्वर के मत्थे मढ़ना चाहता है; और इसमें भी सफल न हुआ, तो फिर 'भाग्य' नामक एक भूत की कल्पना करता है और उसी को सबके लिए उत्तरदायी बनाकर निश्चिन्त हो जाता है । परन्तु प्रश्न उठता है कि यह भाग्य नामक वस्तु क्या है और कहाँ रहती है? हम जो कुछ बोते है, बस वही तो काटते हैं । हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं । हमारा भाग्य यदि खोटा हो, तो कोई दूसरा दोषी नहीं; और यदि हमारा भाग्य अच्छा हो, तो भी कोई दूसरा प्रशंसा का पात्र नहीं । वायु सदा बह रही है । जिन जहाजों के पाल खुले रहते हैं, वायु उन्हीं का साथ देती है और वे आगे बढ़ जाते हैं । पर जिनके पाल नही खुले रहते, उन पर वायु नहीं लगती । तो क्या वायु का दोष है?

अतः अपने दोष के लिए तुम किसी को उत्तरदायी मत समझो, अपने ही पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न करो, सब कामों के लिए अपने को ही उत्तरदायी समझो। कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किये हुए कर्मो के फल हैं । यदि यह मान लिया जाय, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं । जो कुछ हमने सृष्ट किया है, उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है, उसका नाश हमसे कभी नही हो सकता । अतएव उठो, साहसी बनो, शक्तिमान बनो । सब उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लो – याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो । तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है । अतः इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो । **गतस्य शोचना नास्ति** – अब तो सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है । तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य संचित रहेगा; और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे बुरे विचार और गलत कार्य तुम पर शेरो की तरह टूट पड़ने की ताक में है, उसी प्रकार तुम्हारे भले विचार और भले कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार है ।

– स्वामी विवेकानन्द

माँ के सान्निध्य में (६४)

श्रीमती खिरोदबाला राय

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था । उनके प्रेरणादायी वार्तालापो के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षों से प्रकाशित कर रहे थे । इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है । प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद । – सं.)

मैं मुफस्सल से कलकत्ते आकर पहली बार श्रीमाँ का दर्शन करने गयी, उस दिन मेरी तबीयत बड़ी खराब थी । मैं गाड़ी करके बागबाजार गयी थी । जाने के मार्ग में मेरा सिर खूब चकराने लगा; लगा कि उलटी हो जायेगी । किसी प्रकार बागबाजार में माँ के घर में प्रविष्ट होकर सीढ़ी चढ़कर ऊपर जाते हुए सीढ़ी के निकट ही एक लम्बे कमरे के दरवाजे पर मैने माँ को देखा । वे स्नान करने जा रही थीं; मानो मेरी ही प्रतीक्षा में दरवाजे से हाथ लगाये खड़ी थीं । मुझे देखते ही वे थोड़ा हँसकर बोलीं, "कहाँ से आयी हो बेटी? किसलिए आयी हो?"

मैंने कहा, "माँ का दर्शन करने आयी हूँ ।" तत्काल माँ ने कहा, "बेटी, मैं ही माँ हूँ । उधर के कमरे में ठाकुर हैं । ठाकुर को प्रणाम करके वहीं बैठो, मैं नहाकर आती हूँ ।"

इतना कहकर माँ चली गयीं । मैंने मन्दिर के दरवाजे पर जाकर ठाकुर को प्रणाम किया और बैठ गयी । मैं ठाकुर के भोग के लिए कुछ मिठाइयाँ ले गयी थी, नलिनी दीदी ने आकर थोड़ा-सा गंगाजल का छींटा देकर उसे मेरे हाथ से ले जाकर रख दिया । इसी बीच माँ बड़ी शीघ्रतापूर्वक स्नान करके चली आयीं । मैंने देखा कि मेरे जाने के पहले ही ठाकुर की पूजा और फल-मिष्ठान्न का भोग हो चुका है । सब कुछ सजाया हुआ है । मैंने सोचा कि यदि मुझे मिठाई का प्रसाद खाने को दिया गया तो मुझे उलटी आ जायेगी, क्योंकि उस समय भी मेरे सिर में चक्कर आ रहा था । माँ ने मुझसे पूछा, "ठाकुर के लिए कुछ लायी हो?" मैं अपनी लायी हुई मिठाइयाँ दिखाकर बोली, "लायी हूँ, वहाँ रखी हैं ।" माँ ठोंगे के साथ उन्हें ठाकुर के मुख के पास ले जाकर बोलीं, "ठाकुर, खाओ ।"

इसके बाद पीतल की एक छोटी थाली में थोड़े से फल और थोड़ा-सा प्रसादी शर्बत मुझे दिया गया । वे बोलीं, "प्रसाद खा लो, उल्टी नही होगी ।" कमण्डलु से थोड़ा गंगाजल उन्होंने मेरे सिर पर डाला और कहा, "मैं उधर के कमरे में बैठूँगी, तुम खाकर वहाँ चली आना ।" आश्चर्य की बात यह है कि प्रसाद खाने के साथ-ही-साथ मुझे स्वस्थता का बोध होने लगा । इसके बाद मैं उस कमरे में गयी, जहाँ माँ बैठी थीं । मैंने देखा कि हमारी माँ राजरानी के समान विश्वजननी के रूप में आसन पर बैठी हैं; गोलाप-माँ, गौरी-माँ, योगीन-माँ भी उन्हें घेरकर बैठी हुई हैं । देखकर माँ मुझे बड़ी ही अपनी प्रतीत हुईं, परन्तु अन्य जो लोग बैठी थीं, उन्हे देखकर एक तरह का संकोच होने लगा । मैं सोचने लगी कि मैं अपने हृदय का निवेदन उन्हें सूचित कर सकूँगी या नही । मैंने उनसे कहा, "आठ वर्षो के प्राणपण प्रयास से भी आपका दर्शन नहीं मिला, कलकत्ते तक आकर भी दर्शन न पाकर लौट गयी हूँ ।" इतना कहते ही गौरी-माँ बोलीं, "समय हुए बिना क्या माँ का दर्शन मिल सकता है?" मैंने कहा, "अब लगता है समय हो गया है माँ; अब मैंने आपको पा लिया है। मुझे स्वीकार कीजिए । मैं आपसे दीक्षा पाने का संकल्प लेकर आयी हूँ । सुना है कि समय हुए बिना दीक्षा भी नहीं होती । फिर किसी किसी को तो आप 'यहाँ के आदमी नही हो' कहकर विदा भी कर देती हैं । परन्तु मेरे बारे में ऐसा होने पर मैं जीवित नहीं बचूँगी ।"

मेरी ओर एकटक देखती हुई माँ बोलीं, "नहीं, तुम्हारी दीक्षा हो जायेगी ।" उन्होंने पूछा, "बेटी, तुम एकादशी को क्या खाती हो?"

मैंने कहा, "पहले साबूदाना ही खाती थी, पर उसमें तरह तरह की मिलावट की बात सुनकर अब उसे नहीं खाती हूँ ।"

सुनकर माँ बोलीं, "नहीं, नहीं, मैं कहती हूँ तुम साबूदाना खाओ, उससे शरीर ठण्डा रहता है ।" इसके बाद वे बड़े दुख के साथ कहने लगीं, "बेटी, तुमने बड़ी कठोरता की है । मै कहती हूँ, अब और मत करना । शरीर को बिल्कुल काठ कर डाला है । स्वास्थ्य बिगड़ जाने पर किससे भजन करोगी?"

माँ ने पूछा कि मैं शरीर में तेल लगाती हूँ या नहीं । मै बोली, "मैं विधवा होने के कारण तेल नहीं लगाती ।" सुनकर माँ ने कहा, "तेल लगाने से सिर ठण्डा रहता है, तेल जरूर लगाना ।" मैं बोली, "बहुत दिनों से आदत छूट जाने के कारण तेल को छूते ही मुझे घृणा का बोध होता है । माँ, मै तेल नहीं लगा सकूँगी ।" गोलाप-माँ ने कहा, "अभी बच्ची है, परन्तु कठोरता कर करके, न खाकर इसने अपने शरीर को समाप्त कर डाला है ।" गौरी-माँ बोलीं, "बेटी, तुमने सिर के

बाल क्यों काट दिये हैं?'' मैने कहा, ''हमारे अंचल की विधवाएँ बाल नही रखती।'' वे बोली, ''बाल न रहने से नेत्रों की ज्योति खराब हो जाती है। शरीर श्रीकृष्ण को अर्पित है और केवल बाल ही तुम्हारे हैं?'' इस पर योगीन-माँ ने कहा, ''यह शरीर भगवान का मन्दिर है। इसे सुन्दर बनाकर रखना ही उचित है।'' माँ बोलीं, ''अच्छा ही तो किया है, केश रहने से थोड़े विलासिता का भाव आ जाता है; बालों की देखभाल भी करनी पड़ती है। जो भी हो बेटी, तुम केशो का सेतु पार होकर आ पहुँची हो। जिसके लिए तुमने इतनी कठोरता की है, तुम्हारा वह कार्य पूरा हो गया है। अब मै कहती हूँ कि और कठोरता मत करना। कल तुम्हारी दीक्षा हो जायेगी। सुबह आठ बजे यहाँ आकर पहुँच जाना। दीक्षा के दिन थोड़ा गंगास्नान और माँ-काली का दर्शन करने से अच्छा रहेगा।''

मैंने मन-ही-मन सोचा – आपका दर्शन करके ही मेरा काली-दर्शन हो गया है; आपके चरण-स्पर्श से ही मै पवित्र हो गयी हूँ। इसके बाद माँ को प्रणाम करके मै घर लौट आयी।

मेरे देवर सतीशचन्द्र राय माँ के शिष्य थे। उन्हें साथ लेकर ही मै माँ के पास गयी थी। घर लौटने के बाद मैंने उन्हे अगले दिन पुन: माँ के घर ले जाने को कहा। (वे एक अन्य स्थान पर रहते थे)। बागबाजार से घर लौटने के बाद से मेरे सिर मे फिर चक्कर आने लगा। अस्तु, अगले दिन मै माँ के घर जाने के लिए तैयार हुई, परन्तु निश्चित समय पर सतीश मुझे लेने के लिए नही आये। अत्यन्त हताश होकर बैठी थी, तभी सतीश ने आकर मुझसे कहा, ''कल रात को माताजी ने मुझे सूचना भेजी थी, 'कल बहू की दीक्षा नही होगी, क्योकि बहू की तबियत खराब है; परसो दिन के दस बजे के पूर्व तुम उसे ले आना'।'' इसी कारण वह देरी से आया था। श्रीमाँ की दिव्य दूरदृष्टि के बारे मे सोचकर मै विस्मित रह गयी। अगले दिन सुबह मै खूब स्वस्थ महसूस कर रही थी। सतीश ठीक समय पर मुझे ले जाने के लिए आ गये। माँ के आदेशानुसार मै थोड़े-से फल-मिष्ठान, फूल-बिल्वपत्र तथा एक पतली लाल किनारी का वस्त्र लेकर बागबाजार मे उनके घर जा पहुँची। मैने माँ को एक अपूर्व रूप मे देखा। पीले रंग का एक वस्त्र धारण करके माँ मानो मेरे इष्टदेव के रूप में दरवाजे पर खड़ी थी।

मुझे देखते ही वे बोलीं, ''पाँच मिनट देरी हो गयी है, जल्दी से मन्दिर मे आओ।'' ठाकुर के समक्ष उन्होने अपना ही एक आसन बिछा दिया और उसे हाथ से पोछ दिया। मैंने सोचा कि इस आसन पर मै कैसे बैठूँगी! इसके साथ-ही-साथ अपने दाहिने पाँव से आसन को ठेलते हुए बोली, ''हुआ तो, बेटी? यह लड़की भी कम नही है!'' जाते समय मै गाड़ीवान को देने के लिये दो रुपये आँचल मे बाँधकर ले गयी थी, परन्तु उस समय मुझे उन रुपयो की याद नही रह गयी थी। मै आसन पर बैठने ही वाली थी कि माँ ने कहा, ''बेटी, तुम कामिनी-कांचन-त्यागी ठाकुर की आश्रित होने आयी हो और तुम्हारी आँचल मे दो रुपये बँधे हुए हैं। उन्हे खोलकर रख आओ।''

मैने तत्काल वे रुपये खोलकर दीवार के पास रख दिये और आसन पर बैठ गयी। ... मैंने उस दिन माँ को जैसा देखा उससे सोचने लगी कि वे माँ तो ये माँ नही है। सोचते ही मैं अपनी चेतना खो बैठी। इसके साथ-ही-साथ माँ ने मेरा हाथ पकड़कर आसन पर बैठाया और मेरे सिर पर हाथ रखकर अत्यन्त मधुर कण्ठ से – 'माभै:' – तीन बार इस अभयवाणी का उच्चारण किया और बोली, ''भय की कोई बात नही, यह तुम्हारा नया जन्म हो गया। पिछले जन्म मे तुमने जो कुछ किया था, वह सब मैने ले लिया। अब तुम पवित्र हो, तुममें कोई पाप नही है।'' इसके साथ ही मेरी स्वाभाविक अवस्था लौट आयी; माँ ने मुझे दीक्षा प्रदान किया। मैने पूछा, ''क्या जप-विसर्जन का मंत्र है?'' माँ बोलीं, ''विसर्जन नही, समर्पण कहना चाहिए। मेरे हाथ में थोड़ी-सी प्रसाद की मिठाई देकर वे बोली, ''दीक्षा लेने के बाद गुरु के पास ज्यादा समय नही रुकना चाहिए। आज चली जाओ, कल आकर यही प्रसाद ग्रहण करना।'' मै माँ को प्रणाम करके चली आयी और अगले दिन दोपहर मे जाकर प्रसाद ग्रहण किया। खाने-पीने के बाद मै उनके पास बैठी हुई थी। माँ ने मुझसे पूछा, ''पढ़ना-लिखना जानती हो न? सर्वदा गीता का थोड़ा थोड़ा पाठ करना; ठाकुर का 'वचनामृत' और 'रामकृष्ण-पोथी' को पढ़ना। ठाकुर की और भी अनेक किताबे निकली है, उन सबको पढ़ती रहना।''

मै बोली, ''माँ, मेरा मन संसार में बिल्कुल भी नही लगता। मै बड़े कष्टपूर्वक जो संसारियो के बीच निवास कर रही हूँ, यह तो तुम अवश्य ही जानती हो। मेरी प्रार्थना है कि तुम मुझे संसारियो के बीच मत रखो।'' माँ ने कहा, ''तुम लोगों का भला कैसा संसार, बेटी? तुम लोगों के तो संसार जैसा है, वृक्ष के नीचे भी वैसा ही है। संसार क्या उनसे रहित है? वे सभी स्थानो पर है। विशेषकर तुम औरत की जात होकर कहाँ जाओगी, बेटी? वे जहाँ जिस भी प्रकार रखते हैं, वही सन्तुष्ट रहो। तुम्हारा उद्देश्य उन्हे पुकारना और उन्हें प्राप्त करना है। उन्हे पुकारने पर वे तुम्हारा हाथ पकड़कर चला लेगे, उन पर निर्भर रह पाने से तुम्हारे लिए कोई भय नही है। एक बात और – गुरु-शिष्य का एक ही स्थान पर निवास करना अच्छा नही है; क्योकि एकत्र रहने पर कई बार गुरु के कार्य-कलाप देखकर शिष्य उन्हे मनुष्य समझ बैठता है और इससे शिष्य की हानि होती है। निकट ही कही रहकर यदि प्रतिदिन थोड़े समय के लिए गुरु-दर्शन, उनका संग तथा

उपदेश ग्रहण किया जाय तो बहुत ही अच्छा; परन्तु सर्वदा थोड़ा भेंट-मिलाप न रहने पर गुरु को भी शिष्य की बात हमेशा स्मरण नहीं रहती । तुम हर रोज यहाँ आना ।''

अपने बाकी जीवन की क्या अवस्था होगी, यह मैंने माँ की बातों से ठीक समझ लिया । मेरे लिए वन नहीं बल्कि संसार है – यह सोचकर मैं खूब रोयी । मेरा रुदन देखकर माँ बड़ी उद्विग्नता के साथ मुझे समझाने लगीं, ''बेटी, मैंने भी तो सारा जीवन संसार में ही बिताया है । तुम अभी बिल्कुल छोटी हो, धर्म के लिए इधर-उधर जाने में विपत्ति की सम्भावना है । मैं कहती हूँ – जहाँ भी, जिस अवस्था, जिस भाव में भी रहोगी, बाहर की गन्दगी तुम्हें हानि नहीं पहुँचा सकेगी । ठाकुर हैं, तुम्हें डरने या चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं ।''

इसके बाद ही मैं प्रणाम करके चली आयी । उसी दिन के बाद से मैं लगभग हर दिन सामान्यत: तीसरे पहर माँ के पास जाया करती थी और संध्या के पूर्व लौट आती थी । उन्होंने साधन-भजन के विषय में जितनी आवश्यकता थी, उतना बता दिया था और साथ ही यह भी कहा था मन में कोई शंका या प्रश्न उठने पर मैं उनसे पूछकर उसका समाधान कर लिया करूँ; परन्तु मैं तो माँ को देखते ही अभिभूत हो जाती थी । मन में आता कि मेरा सब हो गया है, सब कुछ मिल गया है, अब कुछ पाने को बचा ही नहीं है । माँ, मेरे लिए विश्वजननी, राज-राजेश्वरी, इष्टदेवी हैं और गुरुरूप में मेरे सामने खड़ी हैं । अब मेरे लिए पाने को बाकी क्या हो सकता था? ऐसा सोचकर मुझे असीम आनन्द होता । मैं माँ से बिल्कुल भी प्रश्न नहीं करती थी । वे स्वयं ही जो कुछ कहतीं, उसी को सुनकर मैं तृप्त हो जाती । एक दिन मैंने उनसे कहा, ''माँ, तुम अन्तर्यामिनी हो, सब कुछ जानती हो; तथापि मैं दृढ़तापूर्वक कहती हूँ कि संसारियों के संसार से मैं अत्यन्त घृणा तथा भय करती हूँ । मेरे पास संसार, मकान, धन-दौलत कुछ भी नहीं है । ये सब चीजें मैं तुमसे एक दिन के लिए भी नहीं माँगूँगी । मेरे प्राण जो कुछ चाहते हैं, उसे तुम जानती हो, वही मुझे देना और संसारी लोगों से मुझे दूर रखना ।'' यह कहकर मैं रोने लगी । इन सब बातों के उत्तर में श्री माँ ने मुझे सरल शब्दों में वैसे ही सांत्वना दी, जैसे कि एक माँ अपने शिशु को समझाया करती है । मैं भी अपने मन की पीड़ा को भूलकर आनन्द-सागर में उतराने लगी ।

माँ बीच बीच में कहतीं – ''तुम्हारे ठाकुर कहा करते थे, 'माया-समुद्र में मत कूदना, शार्क और घड़ियाल खा डालेंगे ।' पर तुम लोगों को भय कैसा? तुम्हारे तो ठाकुर हैं ही ।''

श्रीमाँ बड़े परदे में रहती थीं और हम लोगों को भी उन्होंने वैसे ही रखा था । हम लोगों ने महिला भक्तों को ही देखा है, मठ के किसी साधु-संन्यासी को अधिक नहीं देखा । हम लोगों ने केवल माँ को देखकर ही ऐसी धारणा बना ली है कि हमारा पूरा विश्व देखना हो गया है । अब सोचती हूँ कि वैसा था, तभी तो उन्होंने हमें स्वीकार किया था । माँ तो केवल इतना ही कहा करती थीं – सभी अवस्थाओं में सन्तुष्ट रहकर उनका नाम लेती रहो ।

निवेदिता स्कूल की कुछ बालिकाओं को साथ लेकर एक दिन सुधीरा दीदी माँ के यहाँ आयी थीं । उनमें से एक ने कहा, ''माँ, खिरोद दीदी को आप हमारे पास क्यों नहीं रहने देतीं? वह बच्चियों को पढ़ाएगी और वहीं रह भी सकेगी ।''

परन्तु मैंने तो भूलकर भी उन लोगों के साथ रहने-खाने की चर्चा नहीं उठायी थी । इसीलिए मैंने थोड़ी नाराजगी के साथ ही सोचा – ये लोग ऐसा क्यों कहती हैं! माँ ने कहा, ''सभी लोग संसार में एक ही कार्य के लिए नहीं आते । तुम लोग पढ़ोगी और बच्चियों को पढ़ाओगी – तुम लोगों का यही कार्य है । परन्तु खिरोद यह सब करने के लिए नहीं आयी है । पढ़ना-पढ़ाना अच्छा कार्य है, लेकिन सबके लिए नहीं ।'' बालिकाओं के चले जाने के बाद माँ ने कहा, ''बच्चियों को पढ़ाना क्या कम बात है?''

❖ (क्रमश:) ❖

जीना सीखो (१२)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं । उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई । हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है । इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है । दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है । – सं.)

यह एक महान् सत्य है कि हम सबमें छिपी हुई इस दिव्य परम शक्ति का सम्यक् ज्ञान, एक परम अभागे तथा दुर्दशाग्रस्त व्यक्ति में भी अदम्य साहस, दृढ़ निश्चय, बल तथा आशा का संचार कर उसे रूपान्तरित कर सकता है । आत्मा की दिव्यता का यह बोध जीवन के सभी क्षेत्रों में क्रान्ति ला सकता है और विश्व के सभी दोषों को मिटाने हेतु यही एकमात्र औषधि है ।

मानव-मात्र को यह परम सत्य समझाते स्वामी विवेकानन्द कभी नहीं थके । उन्होंने बारम्बार कहा कि आत्मा की महिमा में श्रद्धा रखने से मनुष्य को प्रचण्ड शक्ति प्राप्त होती है और इससे सर्वत्र सबके जीवन में उत्कृष्टता आती है ।

स्वामी विवेकानन्द की गर्जना

"हमें इसी महामहिम आत्मा पर विश्वास करना होगा, इसी इच्छा से शक्ति प्राप्त होगी । तुम जो कुछ सोचोगे, वही हो जाओगे; यदि तुम अपने को दुर्बल समझोगे, तो तुम दुर्बल हो जाओगे; बलवान सोचोगे, तो बलवान बन जाओगे; यदि तुम अपने को अपवित्र सोचोगे तो अपवित्र हो जाओगे; और यदि शुद्ध सोचोगे, तो शुद्ध हो जाओगे । इससे हमको शिक्षा मिलती है कि हम अपने को कमजोर न समझें, प्रत्युत अपने को बलवान, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ मानें । यह भाव हममें चाहे अब तक प्रकाशित न हुआ हो, परन्तु वह हमारे भीतर है जरूर । हमारे भीतर सम्पूर्ण ज्ञान, सारी शक्तियाँ, पूर्ण पवित्रता और स्वाधीनता के भाव विद्यमान हैं । फिर हम उन्हें जीवन में प्रकाशित क्यों नही कर सकते? क्योंकि उन पर हमारा विश्वास नही है । यदि हम उन पर विश्वास कर सकें, तो उनका विकास होगा – जरूर होगा । निर्गुण ब्रह्म से हमें यही शिक्षा मिलती है । बिल्कुल बचपन से ही बच्चों को बलवान बनाओ – उन्हें दुर्बलता या किसी बाहरी अनुष्ठान की शिक्षा न दी जाय । वे तेजस्वी हों, अपने ही पैरो पर खड़े हो सकें – साहसी, सर्वजयी, सब कुछ सहनेवाले हों; पर सर्वप्रथम उन्हें आत्मा की महिमा की शिक्षा दी जाय । यह शिक्षा वेदान्त – केवल वेदान्त मे प्राप्त होगी । वेदान्त में अन्यान्य धर्मों की तरह भक्ति, उपासना आदि की भी अनेक बाते हैं – यथेष्ट मात्रा में हैं, परन्तु मै जिस आत्मतत्त्व की बात कह रहा हूँ, वही जीवन है, शक्तिप्रद है और अत्यन्त अपूर्व है । केवल वेदान्त मे ही वह महान् तत्त्व है, जिससे सारे संसार के भावजगत् में क्रान्ति होगी और भौतिक जगत् के ज्ञान के साथ धर्म का सामंजस्य स्थापित होगा ।"

मैं कौन हूँ?

हममें से प्रत्येक के भीतर अनन्त शक्ति है, पर हमें अपने भीतर निहित अमूल्य कोष या स्वर्गीय भण्डार का आभास नहीं है । मनुष्य कभी कभी स्वयं को अवगुणों तथा कमजोरियों की पोटली समझकर काफी हानि उठाता है । कभी वह उन्मादियों और कभी हिंसक अपराधी जैसा आचरण करने लगता है । प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान इस 'मैं' का वस्तुत: क्या अर्थ है?

सामान्यत: हम इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं कि शक्ति का सच्चा केन्द्र हमारे भीतर है और इसे जान लेने पर हम अपनी सीमाओं को पार कर लेते हैं तथा भावुकतापूर्ण मूढ़ताओं पर विजय पा लेते हैं; ज्ञान तथा विवेक पाकर मुक्त हो जाते हैं। हम चाहे जिस अवस्था में हों, इस उपलब्धि से हमारी वाणी, आचरण तथा कर्म में पूर्णत: बदलाव आ जाता है । कवि बेन्द्रे कहते है, "स्वयं में जाओ, स्वयं को देखो और स्वयं बनो ।" इस 'स्वयं बनो' का क्या अर्थ है । जब हम उत्तम विचारों, विधियों, प्रश्नों तथा अनुभवों के द्वारा अपने सच्चे स्वरूप को जानने की चेष्टा करते हैं, तब हम अपने स्वरूप की गहराई में डूब जाते हैं । तब हमें अपने अन्तर में निहित उस परम ज्योति की झलक मिलती है । तब हमें बोध होता है कि यह ज्योति कोई कपोल कल्पना नहीं, अपितु एक गहन सत्य है ।

श्रीरामकृष्ण प्राय: एक सुन्दर भजन गाया करते थे । उस बँगला भजन का भावार्थ इस प्रकार है – "रे मन! तू अपने आप में पड़ा रह, किसी दूसरे के घर न जाना । तुझे जो भी चाहिये, वह घर बैठे ही मिल जायेगा। जरा अपने अन्त:पुर में खोज तो सही! तू जो भी चाहेगा, वह पारसमणि रूप परम धन उसे दे सकेगा । उस चिन्तामणि के नाट्य-मन्दिर में कितनी ही मणियाँ बिखरी पड़ी हैं ।"

जब हम इस 'मैं' के तत्त्व का ठीक ठीक विश्लेषण करेंगे, तब हमें इसके रहस्य तथा इसकी अनन्त क्षमता का बोध होगा। वस्तुत: हम ऐसी शक्ति से सम्पन्न हैं, जिसका शब्दों में वर्णन नही किया जा सकता और जो केवल सीमितता की हमारी कल्पना के द्वारा ही सीमित हो सकता है । वह बन्धनों की हमारी कल्पना में ही अपने को बन्दी बना लेता है । मनुष्य कैसे इस बन्धन से मुक्त हो – यह एक अत्यन्त उत्तेजनापूर्ण तथा रोमांचक अभियान है । इस खोज के लिए हमें किसी प्रयोगशाला में प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है । हमारा मन ही इसके लिए प्रयोगशाला बन जाता है । विचारों की

तलवार ही इस समस्या की गाँठ को काट डालती है । इस प्रभावी विचारों की तलवार का उपयोग करके हम कैसे अपनी शक्ति की उपलब्धि करते हैं?

अपने को भेड़ समझनेवाला बाघ

एक बड़े हरे-भरे मैदान में कुछ भेड़े घास चर रही थीं । मैदान के उत्तर की ओर एक घना वन था । एक भूखी बाघिन शिकार की टोह में एक ऊँची चट्टान पर बैठी थी । भेड़ों को देखकर उसके मुँह में पानी आ गया । वह घात लगाकर भेड़ों के झुण्ड पर झपटी, परन्तु एक दुर्घटना हो गयी । उसका सिर एक पत्थर से टकरा गया । बाघिन गर्भवती थी । बच्चे को जन्म देकर बाघिन मर गई । बाद में भागी हुई भेड़ों ने लौटकर देखा कि बाघिन चुपचाप पड़ी है । वे समझ गयीं कि बाघिन मर चुकी थी । अनाथ व्याघ्र-शावक को देखकर उन्हें ममता आ गयी । शावक को चाटकर साफ करने के बाद उन्होंने उसे अपने झुण्ड में शामिल कर लिया और अपने मेमनों के साथ पालने लगीं । वे उसे अपना दूध पिलातीं और बाद में वे उसे घास चरना भी सिखाने लगीं । भेड़ों के बीच में रहते हुए व्याघ्र-शावक भी अपने को मेमना समझने लगा । वह भी भेड़ों की ही भाषा में बोलना सीख गया । गड़ेरिया भी अपनी भेड़ों के बीच एक बाघ के बच्चे को देखकर चकित रह गया ।

एक दिन उस जंगल में एक नया बाघ आया । भेड़ों के बीच उस व्याघ्र-शावक को घास चरते देख उसे बड़ा विस्मय हुआ । वह सीधे व्याघ्र-शावक के पास जा पहुँचा और उसे पकड़कर डॉटने लगा । उसने उसे भेड़ों का झुण्ड छोड़कर अपने साथ वन में चलने को कहा । व्याघ्र-शिशु भयभीत होकर कहने लगा, "मुझे छोड़ो, मैं मेमना हूँ, मुझे घास खाने दो ।" अपने स्वरूप से अनभिज्ञ उस बच्चे पर बाघ को बड़ी तरस आयी । वह उसे पास तालाब तक ले गया और जल में उसका प्रतिबिम्ब दिखाकर उसे विश्वास दिलाया कि वह बाघ का बच्चा है; उसे वन में ले जाकर शिकार करना सिखाया । उसे गरजना और राजा की तरह चलना सिखाया । कुछ दिनों के भीतर ही व्याघ्र-शावक स्वयं को पहचान गया कि वह भेड़ नहीं, बाघ है । फिर वह बाघ के समान वन में विचरने लगा ।

भयानक बाघ की सन्तान होकर भी वह अपने को मेमना समझ रहा था । अपने शरीर में बाघ की भयानकता होने के बावजूद वह अपने स्वरूप से अनभिज्ञ रहा और स्वयं को मेमना समझकर उसी के अनुसार आचरण करता रहा । मेमने की भाँति आचरण करते समय भी वह बाघ ही था । तो फिर उसने मेमने जैसा आचरण क्यों किया? ऐसा उसने अपने गहन मिथ्या-बोध तथा अपने व्याघ्र-स्वरूप के प्रति अज्ञान के कारण किया । अज्ञान दूर हो जाने पर जब वह स्वयं को जान गया, तब उसकी भय-आशंका दूर हो गई और वह अपना स्वाभाविक आचरण करने लगा । आत्मविश्वास और अहंकार में भेद है । अहंकार अज्ञान से उत्पन्न होता है । व्यक्ति में निहित क्षमता के बोध से उसका आत्मविश्वास बढ़ता है । हमारा दृढ़ विश्वास हमारे दृष्टिकोण, भावनाओं तथा कर्मों को काफी प्रभावित करता है । वस्तुत: यह हमारे व्यक्तित्व को बड़े सशक्त रूप से प्रभावित करता है । इस विषय में कोई सन्देह नहीं । सत्य का हमारा बोध हमारे ज्ञान तक सीमित रहता है । ज्ञान में वृद्धि के साथ परम सत्य विषयक हमारी धारणा भी बदलती जाती है । इस बात का भी हमें ध्यान रखना चाहिए ।

छाया और प्रकाश

कहते हैं कि दो वर्ष की आयु में ही बालक को 'मैं', 'तुम' तथा 'वह' का ज्ञान हो जाता है । इस 'मैं'-बोध के कारण धीरे धीरे कैसे व्यक्तित्व बनता है, इसी पर अब हम थोड़ा विचार करेंगे । साधारणतया हम व्यक्तित्व या चरित्र-गठन के तत्त्वों को नहीं समझते, पर महात्मा तथा योगी लोग इन्हें स्पष्ट रूप से जानते हैं । श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि जैसे कोई काँच की अलमारी में रखी वस्तुएँ देखता है, वैसे ही वे किसी भी व्यक्ति के भीतर का सब कुछ देख पाते थे । वे इच्छा मात्र से ही, किसी भी व्यक्ति के न केवल वर्तमान, अपितु पिछले जन्मों के भी विचार, कर्म तथा इच्छाओं को जान लेते थे । पर किसी को कष्ट न पहुँचे, इसलिए वे किसी से कुछ कहते नहीं थे । किसी भी मनुष्य के व्यक्तित्व को समझने के लिए हम उसकी आँखों की गति तथा पलकों का झपकना, होठों तथा मुख के हाव-भाव, सिर का हिलना, अंगों की गति, चाल-चलन, उठना-बैठना, रंग आदि शारीरिक लक्षणों का सहारा लेते हैं । ये सारी चीजें हमारे द्वारा व्यक्तित्व के आकलन में सहायता करती हैं, पर सच्चा व्यक्तित्व क्या हमारे भौतिक दृष्टिकोण के परे तथा हमारी पकड़ के बाहर नहीं है? बाह्य लक्षणों के समान ही यदि हम व्यक्तित्व के सूक्ष्म घटकों को भी जान पाते, तो हम एक अन्य ही जगत् में होते । हम तो केवल अपनी इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य अर्थात् रूपों के विश्व में रहते हैं ।

हमारे विचार, भाव, आवेग, स्मृतियाँ, कामनाएँ, अभिरुचियाँ, कल्पनाएँ, दिवास्वप्न आदि अमूर्त चीजें हैं और नेत्रों से नही देखी जा सकतीं; अत: हमारे रहस्य, योजनाएँ, इच्छाएँ, तर्क, विश्वास तथा शंकाएँ, भूख-प्यास, भाव तथा वासनाएँ, रुचि तथा अरुचियाँ सामान्य दृष्टि के अगोचर रहती हैं । व्यक्तित्व के ये अदृश्य घटक हमारे 'अहं'-भाव को आवृत्त किये रहते हैं । डॉ. एलेक्सिस केरेल ने ठीक ही कहा है, "मनुष्य में मापी जा सकनेवाली वस्तुओं की अपेक्षा न मापी जा सकनेवाली चीजें कही अधिक महत्वपूर्ण हैं ।"

अपने विषय में धारणा

मेक्स्वेल माल्ट्ज एक प्रसिद्ध प्लास्टिक-शल्य-चिकित्सक थे । इन महान् चिकित्सक ने अनेक वनमानुषों को कामदेव-सा सुन्दर रूप दिया था । उन्होंने अनेक झुर्रियों भरे चेहरों, विकृत

नाकों, गर्दनों, तोंदों तथा दुबली बाँहों को अपनी शल्यक्रिया से सुधारा था। डॉ. माल्ट्ज ने बताया कि शारीरिक विकृतियाँ ठीक हो जाने पर उनके रोगी आत्मविश्वास तथा उत्साह से परिपूर्ण हो जाते थे। दो भागों में कटे होठोवाले एक लड़के में हीनता का भाव आ गया था। सबके द्वारा हँसी उड़ाये जाने के कारण उसे शर्म आती थी और वह सबसे अलग-थलग रहता था। शल्यक्रिया के कुछ दिन बाद भी दर्पण में अपना रूप देखकर उसके व्यक्तित्व तथा चरित्र मे कोई अन्तर नहीं आया। शंका उसका पीछा करती रही, मन मे पराजय का भाव बना रहा। वह दु:ख तथा निराशा से घिरा रहा। उसे केवल रूप-परिवर्तन की नही, अपितु 'अहं' तथा प्रवृति में परिवर्तन की जरूरत थी। डा. माल्ट्ज ने देखा कि अपने व्यक्तित्व के विषय में उनकी दृढ़मूल धारणाओ को बदलना आवश्यक है, तभी उसमे आत्मविश्वास आ सकता था। ऐसा परिवर्तन आने के बाद वह एकदम बदल गया। इससे डॉ. को 'आत्मधारणा' का एक नया सिद्धान्त मिला। आत्मधारणा को बदलने से सारा व्यक्तित्व बदल जाता है। प्रयोगो तथा निरीक्षणों के द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे और यह बात उन्होंने एक पुस्तक में लिखी। इससे अनेकों ने लाभ उठाया, अयोग्य माने गये छात्र प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हुए, निरे भाग्यवादी लोग उत्साही तथा परिश्रमी बन गये, कार्यकुशलता तथा उपलब्धियो में पिछड़े हुए लोगो को उच्च पद मिले और अन्तर्मुखी वृत्तिवाले लोग आत्मविश्वास तथा साहस के साथ सबसे घुलने मिलने लगे।

यह एक मनोवैज्ञानिक खोज थी, जो सबके जीवन के लिये और विशेषकर पिछड़े हुए लोगो के लिये उपयोगी बनी। जाने या अनजाने, हम सभी अपने एक रूप की कल्पना करते है, इसे आत्मधारणा भी कहते है। बहुधा यह हमारे चेतन बोध से परे रहता है। किसी गुट की सदस्यता या अपनी विशेषताओं से ही हम अपनी पहचान बनाते है। हम यह जानबूझकर नही करते, पर इसका आभास मन की गहराइयो मे अवश्य रहता है। जन्म से ही हमारे बोध तथा विश्वासो को ग्रहण करते हुए हममे इस चेतना का विकास होता रहता है। जगत् को समझने के पहले से ही हममे कुछ धारणाएँ बन जाती हैं। हमारे अनुभव, उपलब्धियाँ तथा असफलताएँ और हमारे प्रति लोगों की प्रतिक्रियाएँ, बचपन से ही इन विश्वासो का निर्माण करने लगती है। ये सारे विश्वास हमारी आत्मधारणा का निर्माण करते हैं, जो हमारी चेतना का हिस्सा नही भी हो सकते है। मनोवैज्ञानिको के मतानुसार हम इसी आत्मधारणा के अनुकूल आचरण करते है। अपनी 'Psycho-cybernetics' (मन:संचार -प्रणाली) पुस्तक मे डॉ. माल्ट्ज कहते है, "आपके सारे कर्म, भाव, आचरण और यहाँ तक कि आपकी क्षमताएँ भी इसी आत्मधारणा के अनुसार होती है। अर्थात् आप अपने विषय मे जैसा सोचते है, उसी के अनुरूप आचरण करते हैं। इतना ही नही, सजग प्रयास या इच्छाशक्ति के द्वारा भी आप इसके विपरीत कुछ नही कर सकते।"

यह सिद्धान्त कितना सत्य है? व्यक्तित्व के निर्माण में आत्मधारणा की क्या भूमिका है? इस बात को समझने के लिए हम निम्नलिखित दृष्टान्त लेते हैं –

राजकुमार का धोबी में रूपान्तरण

एक राजा को ज्योतिषियों ने बताया कि उनका पुत्र अशुभ घड़ी में जन्मा है, अत: उनका राज्य चला जायेगा। राजा ने बालक को वन में छुड़वा दिया। एक धोबी दम्पति ने इस सुन्दर बालक को देखा। नि:सन्तान होने के कारण वे बालक को ईश्वर का प्रसाद मानकर घर ले गये और अपने ही पुत्र के समान उसका पालन करने लगे। बालक भी गधो को खिलाने, कपड़े धोने आदि कार्यो में अपने धोबी माता-पिता का हाथ बँटाता। एक दिन उधर से गुजरते हुए एक सन्त की दृष्टि उस पर पड़ी। सन्त ने उस सो रहे बालक के राजसी लक्षण देखे। पूछने पर बालक ने बताया कि वह धोबी का पुत्र है। सन्त द्वारा उसकी भावी योजना के बारे में पूछने पर बालक ने कहा, "मै बहुत-से गधे पालूँगा और अपना कपड़े धोने का व्यवसाय बढ़ाऊँगा।" अकेले में पूछने पर धोबी ने सन्त को बताया कि वह उसे वन में मिला था और वह उसके जन्म के बारे में कुछ नही जानता। सन्त ने जाकर राजा को सूचित किया कि अशुभ समय बीत चुका है और अब बालक को वापस महल में लाने से कोई संकट नही होगा। इस प्रकार उन्होने बालक को महल मे वापस ले आने की सलाह दी।

अब तक स्वयं को धोबी माननेवाले बालक से जब कहा गया कि वह राजकुमार है, तो इस पर वह क्या कहे? क्या यह कहे कि क्यो राजपुत्र कहकर उसकी हँसी उड़ायी जा रही है? जब उन लोगो ने उसे महल में ले जाने की बात कही, तो क्या वह पूछेगा कि क्या वहाँ धुलाई के लिए पर्याप्त काम मिलेगा?

लम्बे अर्से तक स्वयं को धोबी माननेवाले बालक को क्या राजकुमार कह देने मात्र से ही उसे राजकुमार बनाया जा सकता है? उसके कान में जोर की आवाज में 'तू राजपुत्र है' कह देने से क्या वह अपनी आत्मधारणा को भूल सकेगा?

महाभारत में भी कर्ण की कथा से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। क्या भेड़ों के बीच पला हुआ व्याघ्र-शिशु वन के बाघ द्वारा यह बताये जाने मात्र से कि वह एक बाघ का बच्चा है, वह अपनी आत्मधारणा भुला सकता है?

उन्नति का राजमार्ग

इस आत्मधारणा को बदलना निश्चित रूप से सम्भव है। बच्चे के मन मे गहराई से जड़ जमाये हुए उन भावो को धीरे धीरे मिथ्या तथा अयुक्तिसंगत सिद्ध किया जाना चाहिए। अब तक अनुभवो व प्रमाणो के आधार पर स्वीकार किये गये सत्य

को उसके उल्टे तात्पर्य-वाले नये प्रमाणों तथा अनुभवों के आधार पर गलत सिद्ध किया जाना चाहिए।

अनेक छात्रों में यह गलत आत्म-धारणा देखने को मिलती है। वे विषय को जल्दी समझ लेनेवाले छात्रों से अपनी तुलना करके स्वयं को अक्षम तथा अयोग्य समझने लगते हैं। आरम्भ में हुई छोटी-मोटी गल्तियों पर शिक्षक की डाँट-फटकार सुनकर वे अपना आत्मविश्वास खो बैठते हैं। "इसमें बुद्धि नही है, यह पढ़-लिख नहीं सकता" – बड़ों की ऐसी कटु उक्तियाँ भी उनके मन में दृढ़मूल हो जाती है। बुद्धिमान ज्येष्ठ पुत्र के सामने पिता द्वारा छोटे भाई को बुद्धू कहना उसके मन को बड़ा आघात पहुँचाता है। इससे युवकों में अपनी बुद्धि तथा पढ़ाई की योग्यता के विषय में नकारात्मक भाव विकसित हो जाता है। एक बार अपनी आत्म-धारणा के साथ नकारात्मक भाव जुड़ जाने के बाद, वे चाहे जितनी भी चेष्टा क्यों न करें, सफलता पाने में नाकाम रहते हैं। स्वाभाविक रूप से आशावादी युवकों के लिए यह पराजय पीड़ादायी है। बाहर से कोई उन्हें आत्मविश्वास नहीं दे सकता। पुरस्कार का लोभ या प्रोत्साहन के शब्द भी उन्हें प्रेरित नहीं करते। "पढ़ना मुझे अच्छा नहीं लगता, मैं नहीं पढ़ सकता" – इसका निहितार्थ यह है कि मैं दुबारा असफल होकर अपनी हँसी उड़वाना नहीं चाहता। पर यदि हम उसकी आत्म-धारणा को बदलने में सहायता करें, तो वह सफल हो सकता है। इसके लिए हमें उसके स्वाभिमान को क्षति पहुँचाए बिना, धैर्य तथा प्रेमपूर्वक उनका मार्गदर्शन करना होगा। उनके पुनर्निर्माण का प्रयास मूल से ही होना चाहिए। प्रारम्भ में उन्हें सरल प्रश्न देकर हल करने में उनकी मदद की जानी चाहिए। उनकी थोड़ी-सी सफलता पर भी उन्हें प्रशंसा के द्वारा प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इस प्रकार बारम्बार सफल होने पर उनके मन में दीर्घकाल से दृढ़ीभूत पराजय तथा हताशा का भाव क्रमशः दूर हो जायेगा; उनकी आत्मधारणा में रूपान्तरण होगा और उनमें आत्मविश्वास पुनः लौट आयेगा। वे मानो नये ही प्राणी बन जायेंगे।

आत्म-धारणा अनुभवों से ही बनती तथा दृढ़ीभूत होती है। दूसरे, अधिक सकारात्मक अनुभवों के द्वारा इसे बदला भी जा सकता है। संक्षेप में, जीवन के विभिन्न उद्देश्य आत्म-धारणा से ही निर्धारित होते हैं। हमारी इच्छाएँ, भावनाएँ तथा आचरण पूरी तौर से इस आत्मधारणा पर ही निर्भर करते हैं।

'मैं' के विविध रंग-रूप

हम देखते हैं कि किस प्रकार स्वयं के विषय में धारणा के अनुसार लोगों के व्यवहार तथा प्रवृत्तियों में परिवर्तन आ जाता है। इसे 'पहचान को दिशा देना' कहा जा सकता है। आत्म-धारणा के अनुसार हर 'पहचान' व्यक्ति में विभिन्न प्रतिक्रियाएँ लाती है। इसे निम्न उदाहरण में देखा जा सकता है – जो व्यक्ति स्वयं को स्वस्थ समझता है, वह स्वयं को स्वस्थ मानकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। इस विषय में वह गर्व का बोध करते हुए या तो खुले तौर से आत्मप्रशंसा या छिपे तौर से दूसरों के प्रति तुच्छता का भाव रखता है। वह अपने स्वस्थ होने के अनेक और बहुधा असम्बद्ध कारण गिनाता है। वह रोगियों के प्रति तिरस्कार का भाव रखता है और उनके समक्ष आत्मतुष्टि के साथ कहता है, "मैंने जीवन में कभी दवा नहीं खायी, कभी चिकित्सक के पास नहीं गया। यदि वह स्वस्थ व्यक्ति कठिन परिश्रम का आदी है और जीवन में कुछ सफलता पा सका है, तो वह दूसरों को कामचोर या सुस्त समझ कर सलाह देता है, "यदि तुम मेहनत करोगे, तो नीरोग रहोगे।" जो लोग स्वयं को बड़ा शिक्षित, सुन्दर या धनी समझते हैं, उनका भी दूसरों के प्रति ऐसा ही व्यवहार होता है। व्यक्तित्व-निर्माण के दौरान दूसरों की नकल करने से भी ऐसा मनोभाव आ जाता है। संक्षेप में, आत्मधारणा के अनुसार ही विचार बनते हैं, व्यवहार बदलता है और उन्हें युक्तिसंगत सिद्ध करने के लिए प्रतिक्रियाएँ भी उभरती हैं।[१]

मान लो कोई बालक या युवक ऐसे वातावरण में पला हो, जहाँ मूर्तिपूजा को अन्धविश्वास कहकर निरर्थक माना जाता हो; या जिस व्यक्ति को अपने ही धर्ममत तथा उसकी उपासना-पद्धति को श्रेष्ठ मानने और अन्य मतों तथा उपासना-पद्धतियों को निकृष्ट या गलत मानने का प्रशिक्षण मिला हो, वह कभी दूसरे मतों द्वारा पूजी जानेवाली मूर्तियों के प्रति श्रद्धा या भक्ति का बोध नहीं कर सकता। यदि कोई उन्हें मूर्तिपूजा का महत्त्व, उपासना में प्रतीकों का तात्पर्य, ज्ञानप्राप्ति के पथ में उनकी उपयोगिता, सर्वव्यापी-सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ ईश्वर का अपने भक्तों के लिए अभिव्यक्त होने की सम्भावना को समझाने का प्रयास करे, तो उसकी दृढ़ आत्मधारणा ईमानदारीपूर्वक इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करने देगी। उसके अहंकार से जुड़े कट्टरतापूर्ण विचार उससे विध्वंसक कर्म कराते हैं। जिस परिवेश में वह पला है और लम्बी अवधि तक उसे जो मार्ग-दर्शन, शिक्षण, प्रशिक्षण, प्रलोभन तथा प्रोत्साहन दिया गया है, क्या उसकी सीमाओं को लाँघ पाना उसके लिए सम्भव है? क्या वह दया या तिरस्कार का पात्र है? क्या उसकी आत्मधारणा को धीरे धीरे किन्तु पूर्णतया बदलना सम्भव है?

१. 'सामान्यतः आपको बोध नहीं होता कि अपने स्वरूप के बारे में अपनी आन्तरिक धारणा के फलस्वरूप प्रति क्षण आपका शरीर बन रहा है या आपके विचारों के अनुसार इसमें महत्वपूर्ण रासायनिक व विद्युत-चुम्बकीय पद्धतियों के परिवर्तन होते हैं।' (The Eternal validity of the soul)

❖ (क्रमशः) ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (१२)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप के जीवन के विषय में ज्यादा जानकारी नही मिलती । कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान मे निवास करनेवाले एक गुलाम थे । उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है । सुकरात तथा सिकन्दर के युग मे भी अनेक भारतवासी उन देशों की यात्रा किया करते थे, इस कारण प्राचीन यूनान की कथाओं पर भारतीय प्रभाव होना कोई असम्भव बात नहीं है । इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी है । इनकी लोकप्रियता का यही रहस्य है । – सं.)

गाड़ीवान और देवता

एक गाड़ीवान गाँव की गलियों से होकर अपनी लदी हुई बैलगाड़ी ले जा रहा था । वर्षा के दिन थे । एक जगह उसके पहिये गड्ढे में फँस गये । गाड़ीवान नीचे उतर आया और हैरान तथा परेशान होकर अपनी गाड़ी को देखने लगा । वह निराश होकर सहायता के लिए अपने इष्टदेवता को पुकारने लगा । उसके इष्टदेवता प्रकट हुए और बोले, "बेटा, तुम पहियो से अपना कन्धा लगाकर, बैलों को उकसाकर गाड़ी को निकालने का प्रयास तो करो । पहले स्वयं प्रयास करके थक-हार जाने के बाद ही तुम मुझे पुकारना, अन्यथा मैं कभी तुम्हारी प्रार्थना के उत्तर में आकर तुम्हारी सहायता नहीं करूँगा ।

ठीक ही कहा है – अपना हाथ जगन्नाथ ।

यात्री और उसका कुत्ता

एक यात्री ने अपनी यात्रा के लिए निकलने के पूर्व देखा कि उसका कुत्ता दरवाजे पर खड़ा होकर अँगड़ाइयाँ ले रहा है । उसने थोड़ी नाराजगी के साथ कहा, "वहाँ मुँह बाये क्यों खड़ा है? एक तुझे छोड़कर सारी तैयारियाँ पूरी हो चुकी हैं । चल, तत्काल मेरे साथ चलने के लिए तैयार हो जा ।" कुत्ते ने पूँछ हिलाते हुए उत्तर दिया, "मालिक, मैं तो बिल्कुल ही तैयार हूँ और आप ही का इन्तजार कर रहा था ।"

प्राय: अपनी गल्तियों को छिपाने के लिए लोग दूसरों पर दोष मढ़ा करते हैं ।

छछूंदर और उसकी माँ

छछूंदर जन्म से ही अन्धे हुआ करते हैं । एक बार एक छछूंदर बालक ने अपनी माँ से कहा, "माँ, मुझे निश्चित रूप से लगता है कि मै देख सकता हूँ ।" माँ ने उसकी गलतफहमी दूर करने की इच्छा से उसके सामने थोड़ा-सा लोहबान का चूरा रख दिया और बोली, "बताओ तो, यह क्या है?" बाल-छछूंदर ने कहा, "यह रेत है ।" माँ उच्छ्वास लेकर कह उठी, "बेटा, मुझे तो लगता है कि तुम न केवल अन्धे हो, बल्कि तुम्हारी सूँघने की शक्ति भी जा चुकी है ।"

चरवाहे का खोया हुआ बछड़ा

एक चरवाहा जंगल में अपने मवेशियों को चराते हुए अपना एक बछड़ा खो बैठा । काफी देर तक निष्फल प्रयास करने के बाद उसने प्रतिज्ञा की कि यदि उसके बछड़े का चोर पकड़ में आया, तो वह वनदेवता को एक मेमना चढ़ाएगा ।

थोड़ी देर बाद ही एक छोटी-सी पहाड़ी से नीचे उतरते समय उसने देखा कि नीचे एक शेर उसके बछड़े को खा रहा है । इस दृश्य से आतंकित होकर उसने अपनी आँखें तथा हाथ आसमान की ओर उठाकर कहा, "अभी अभी मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मुझे अपने बछड़े का चोर मिल जाय, तो वनदेवता को मैं एक मेमना चढ़ाऊँगा; परन्तु अब उस चोर से भेंट हो जाने पर मैं अपनी सुरक्षा के लिए उस चोर को बछड़े के साथ ही साथ सहर्ष एक बड़ा साँड़ भी चढ़ाने को तैयार हूँ ।"

अनार, सेव और बबूल के वृक्ष

एक अनार तथा सेव के वृक्ष आपस में विवाद कर रहे थे कि दोनों में कौन सर्वाधिक सुन्दर है । जब उनकी कलह चरम सीमा पर पहुँच गयी, तभी थोड़ी दूर पर खेड़े एक बबूल के पेड़ ने अपनी आवाज को चढ़ाकर डींग हाँकते हुए कहा, "मित्रो, कम-से-कम मेरे समान सुन्दर वृक्ष के रहते तो ऐसे बेकार के विवाद मत करो ।"

मृगछौना और उसकी माता

हिरन का एक छोटा-सा बच्चा एक बार अपनी माँ से बोला, "माँ, तुम तो आकार में कुत्ते से बड़ी हो, दौड़ने में उससे तेज भी हो और तुम्हारे पास अपनी रक्षा के लिए सींग भी हैं; फिर तुम क्यों कुत्तो से इस प्रकार डरी हुई रहती हो?"

माँ मुस्कराते हुए बोली, "बेटा, मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि जो तुम कहते हो, वह सही है । मुझमें वे सारी क्षमताएँ हैं, परन्तु मैं ज्योंही किसी एक भी कुत्ते की आवाज सुनती हूँ, तो लगता है कि मुझे गश आ जायेगा और मुझे जितनी तेजी से सम्भव हो सके, भाग निकलना चाहिए ।

एक आदमी और सिंह

एक मनुष्य तथा एक सिंह एक साथ जंगल से होकर यात्रा कर रहे थे । शीघ्र ही दोनों अपने अपने बल तथा साहस की डींग हाँकने हुए अपनी श्रेष्ठता बताने लगे । इसी तरह बहस करते हुए वे पत्थर की बनी एक मूर्ति के पास से गुजरे । मूर्ति में एक मनुष्य द्वारा सिंह को मारने का दृश्य अंकित था । यात्री ने उस ओर इंगित करते हुए कहा, "देखो, हम कितने बली हैं और कैसे हम पशुओं के राजा को भी पराभूत कर देते हैं ।" सिंह ने उत्तर दिया, "यह मूर्ति तुम्हारे जैसे किसी आदमी की

बनाई हुई है । यदि हम सिंह लोग भी मूर्तियाँ बनाना जानते, तो तुम्हें आदमी सिंह के पंजों के नीचे दिखाई देता ।''

हर कोई अपने दोषों तथा दुर्बलताओं को छिपाकर गुणों तथा कृतित्वों का प्रदर्शन करता है ।

अवाबील और कौआ

एक अवाबील पक्षी तथा एक कौए के बीच उनके पंखों की सुन्दरता पर बहस हो रही थी । अन्त में कौए ने विवाद का समापन करते हुए कहा, ''तुम्हारे पंख वसन्त ऋतु में बड़े सुन्दर दिखते हैं, परन्तु मेरे पंख मुझे जाड़ों में बचाते हैं ।''

केवल सुन्दर होने से कोई चीज उपयोगी नहीं हो जाती ।

निकला चूहा

एक पर्वत बड़े कष्ट में था । उसमें से जोर जोर से कराहने तथा चिल्लाने की आवाजें आ रही थीं । आखिर बात क्या है, – देखने को चारों ओर से हजारों लोग एकत्र हो गये । वे लोग बड़ी बेसब्री के साथ साँस रोके किसी भीषण हादसे की प्रतीक्षा कर रहे थे, तभी उसमें से एक चूहा बाहर निकल आया ।

अल्प क्षमतावाले लोग प्राय: बड़ा आडम्बर दिखाते हैं ।

किसान और बगुले

हाल ही में धान बोए गये एक खेत में कुछ बगुलों ने अपने चरने का स्थान बना लिया था । कुछ दिनों तक किसान उन्हें भगाने के निमित्त हाथ में खाली गुलेल लिए उनके पीछे दौड़ा करता था । शुरू में तो बगुले आतंक के कारण भाग जाते, परन्तु कुछ दिनों बाद जब उन्होंने देखा कि गुलेल केवल हवा में ही चलती है, तो उन्होंने उसकी ओर ध्यान देना बन्द कर दिया और पूर्ववत् निश्चिन्त भाव से चरने लगे ।

इस पर किसान के क्रोध की सीमा न रही । उसने अपनी गुलेल में कंकड़ डालकर अनेक पक्षियों को मार डाला । बचे हुए पक्षी तत्काल उसका खेत छोड़कर यह कहते हुए चले गये, ''अब हमारा यहाँ से विदा लेने का समय हो गया है, क्योंकि यह आदमी अब केवल हमें डराकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता है; अब तो यह दिखाने लगा है कि वह हमारे साथ क्या कर सकता है ।

फुफकारने से काम नहीं बने, तो काटना भी पड़ता है ।

प्यासे कबूतर

प्यास से आकुल एक कबूतर ने एक दीवाल पर चित्रित एक जलपात्र देखा । इसकी वास्तविकता को समझे बिना ही वह मूढ़तापूर्वक उसकी ओर तेजी से उड़ा और जोर से जा टकराया । इस धक्के से उसके पंख टूट गये और वह जमीन पर गिर पड़ा । इसके बाद पास ही खड़े एक व्यक्ति ने उसे पकड़ लिया और अपने घर ले गया ।

विचारपूर्वक ही अपने उत्साह को कार्य में लगाना चाहिए ।

काला कौआ और हंस

एक काले कौए ने एक हंस को देखा और उसी के समान श्वेत तथा सुन्दर पंखों को पाने की इच्छा करने लगा । उसने सोचा कि हंस सर्वदा सरोवर में तैरता रहता है, जिसमें धुल-धुलकर उसका सुन्दर श्वेत रंग निकल आया है । उसने अपने भोजन आदि की चिन्ता छोड़कर गाँव के अपने बसेरे से प्रस्थान किया और जाकर एक विशाल सरोवर के किनारे रहने लगा । वहाँ दिन-रात पंखों को धोते रहने पर भी उनका रंग नहीं बदला, परन्तु भोजन के अभाव में भूख से उसकी मृत्यु हो गयी ।

दूसरों का आँख मूँदकर अनुकरण नहीं करना चाहिए ।

बकरी और चरवाहा

एक बकरा अपने झुण्ड से भटक गया था । चरवाहे ने उसे वापस लाने का प्रयास किया । उसने सीटियाँ बजायीं और तरह तरह की आवाजें निकाल कर उसे बुलाने का प्रयास किया, परन्तु बकरे के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी । आखिरकार चरवाहे ने नाराज होकर उसकी ओर एक पत्थर फेंका । पत्थर लगकर बकरे का एक सींग टूट गया । उसने बकरे से अनुरोध किया कि वह इस विषय में मालिक से कुछ न कहे । बकरा बोला, ''अरे मूर्ख, मैं भले ही चुप रह जाऊँ, पर यह सींग तो स्वयं ही बोलेगा ।''

खुली रहनेवाली चीज को छिपाने का प्रयास निरर्थक है ।

डींग हाँकनेवाला यात्री

विदेशों में भ्रमण कर चुका एक व्यक्ति अपने देश लौटकर खूब डींग हाँकता था कि उसने किस किस देश में क्या क्या अद्भुत तथा वीरतापूर्ण कारनामे किये हैं । अन्य चीजों के अलावा उसने बताया कि जब वह अफ्रीका में था, तो उसने इतनी लम्बी छलाँग लगाई कि इस काल का कोई भी व्यक्ति उतनी लम्बी छलाँग नहीं लगा सकता था । उसने बताया कि अफ्रीका के बहुत-से लोगों ने उसके इस कारनामे को देखा है और इसके गवाह हैं । पास खड़े एक श्रोता ने कहा, ''भले आदमी, यदि यह सब सत्य है, तो फिर इसके लिए गवाह की कोई जरूरत नहीं । इसी जगह को तुम अफ्रीका मान लो और हमारे सामने छलाँग लगाकर दिखाओ ।'' ❖ (क्रमश:) ❖

केनोपनिषद् (१२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। उनमें से ईशोपनिषद् के बाद अब हम केनोपनिषद् पर शांकर भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ पर भाष्य की अधिकांश कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया है और उसमें आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

विद्याप्राप्ति के साधन

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः
सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥८॥ (३३)

अन्वयार्थ – **तपः** एकाग्रता **दमः** इन्द्रिय-संयम **कर्म** अग्निहोत्र आदि कर्मकाण्ड **इति** ये **तस्यै** उसके **प्रतिष्ठा** पाँव हैं **वेदाः** वेद उसके **सर्वाङ्गानि** सर्वांग है, **सत्यम्** सत्य उसका **आयतनम्** अधिष्ठान या आधार है।

भावार्थ – तपस्या, इन्द्रियनिग्रह, शास्त्रसम्मत कर्म आदि उस (ब्रह्मविद्या) के पाँव है। (छह अंगों सहित) वेद उसका सर्वांग है। सत्य उसका निवास है।

भाष्य – याम् इमां ब्राह्मीम् उपनिषदं तव अग्रे अब्रूम् इति तस्यै तस्या उक्ताया उपनिषदः प्राप्ति-उपायभूतानि तप-आदीनि । तपः काय-इन्द्रिय-मनसां समाधानम् । दमः उपशमः । कर्म अग्निहोत्र-आदि । एतैः हि संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धि-द्वारा तत्त्वज्ञान-उत्पत्तिः दृष्टा । दृष्टा हि अमृदित-कल्मषस्य उक्ते अपि ब्रह्मणि अप्रतिपत्तिः विपरीत-प्रतिपत्तिः च, यथा इन्द्र-विरोचन-प्रभृतीनाम् ।

जिस ब्रह्म-सम्बन्धी उपनिषद् को तुम्हे बताया था, उस कहे हुए उपनिषद् की प्राप्ति में तप आदि उपाय रूप है। शरीर, इन्द्रियो तथा मन को एकाग्र (शान्त) करना तप है। (विषयों से इन्द्रियो को) निकालना दम है। अग्निहोत्र आदि कर्म है। इनके द्वारा शुद्ध हुए अन्तःकरण-वाले व्यक्ति में तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति देखी गयी है; फिर जिनके पापो का नाश नही हुआ है, उन्हे इन्द्र, विरोचन आदि के समान ब्रह्म के बारे मे बताये जाने पर भी अज्ञान तथा विपरीत ज्ञान देखने मे आया है।

तस्माद् इह वा अतीतेषु वा बहुषु जन्मान्तरेषु तपादिभिः कृत-सत्त्वशुद्धेः ज्ञानं समुत्पद्यते यथाश्रुतम् – 'यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' (श्वे. उ. ६/२३) इति मन्त्रवर्णात् । 'ज्ञानम् उत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' (महा. शा. २०४/८) इति स्मृतेश्च ।

इसलिए इस जन्म में, पिछले जन्म में या बीते हुए अनेक जन्मों में तप आदि के द्वारा जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, उसमें जैसा सुनाया जाता है, वैसा ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसा कि इस श्रुति में कहा गया है – "जिस व्यक्ति की ईश्वर में परम भक्ति है और ईश्वर के समान ही गुरु में भी भक्ति है। ऐसे महात्मा व्यक्ति को ही बताये जाने पर यह विषय स्पष्ट होता है।" स्मृति (महाभारत) में भी है – "पाप कर्मों का क्षय हो जाने के बाद ही मनुष्य में ज्ञान उत्पन्न होता है।"

इति शब्दः उपलक्षणत्व-प्रदर्शनार्थः । इति एवम् आदि अन्यद् अपि ज्ञानोत्पत्तेः उपकारकम् 'अमानित्वम् अदम्भित्वम्' (गीता १३/७) इत्यादि उपदर्शितं भवति । प्रतिष्ठा पादौ पादौ-इव-अस्याः, तेषु हि सत्सु प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या प्रवर्तते, पद्भ्याम् इव पुरुषः । वेदाः चत्वारः सर्वाणि चाङ्गानि शिक्षा-आदीनि षद् कर्मज्ञान-प्रकाशक-त्वाद् वेदानां तद्-रक्षणार्थत्वाद् अङ्गानां प्रतिष्ठात्वम् ।

इति शब्द उपलक्षण (साथ में अन्य को भी) दिखाने के-लिए है अर्थात् 'अभिमानहीनता, दम्भहीनता' आदि भी उपलक्षण से ज्ञानोत्पत्ति में सहायक के रूप मे प्रदर्शित हुए हैं। प्रतिष्ठा का अर्थ है पाँव। ये (तप आदि) मानो ब्रह्मविद्या के पाँवों के समान हैं। जैसे व्यक्ति पाँवों पर खड़ा रहता है, वैसे ही इन (तप आदि) के रहने पर ही ब्रह्मविद्या स्थिर होकर क्रियाशील होती है। चारों वेद तथा शिक्षा आदि छह वेदांग भी इसके (ब्रह्मविद्या) आश्रय या पाँव हैं, क्योंकि (वेद) कर्म और ज्ञान का प्रकाशन करते हैं और (वेदांग) वेदों की रक्षा करते हैं।

अथवा, प्रतिष्ठा-शब्दस्य पाद-रूप-कल्पनार्थत्वाद् वेदाः तु इतराणि सर्वाङ्गानि शिरादीनि । अस्मिन् पक्षे शिक्षादीनां वेदग्रहणेन एव ग्रहणं कृतं प्रत्येतव्यम् । अङ्गिनि गृहीते अङ्गानि गृहीतानि एव भवन्ति, तद् आयतनत्वाद् अङ्गानाम् ।

या दूसरी तरह से अर्थ करें, तो चूँकि प्रतिष्ठा की (ब्रह्मविद्या के) पाँवो के रूप में कल्पना की गयी है, अतः अंग सहित वेद को उसका सिर आदि अन्य सभी अंग समझ लेना। यहाँ वेद के ग्रहण से उसके अंग रूप शिक्षा आदि का ग्रहण मान लेना होगा; क्योकि सभी अंग अंगी (व्यक्ति) के अधीन होते हैं और अंगी को लेने से अंगों का भी ग्रहण हो जाता है।

सत्यम् आयतनं यत्र तिष्ठति उपनिषत् तद्-आयतनम् सत्यम् इति । अमायिता अकौटिल्यं वाङ्मनःकायानाम् तेषु हि आश्रयति विद्या ये अमायाविनः साधवः, न असुरप्रकृतिषु मायाविषु ; 'न येषु जिह्ममनृतं न माया च' (प्र. उ. १/१६) इति श्रुतेः । तस्मात् सत्यम् आयतनम् इति कल्प्यते । तपआदिषु एव प्रतिष्ठात्वेन प्राप्तस्य सत्यस्य पुनः आयतनत्वेन ग्रहणं साधन-अतिशयत्व-ज्ञापनार्थम् । 'अश्वमेध-सहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् । अश्वमेध-सहस्रात् च सत्यम् एकं विशिष्यते' (विष्णुस्मृति ८) इति स्मृतेः ।।८।।

उपनिषद् जिस पर खड़ा होता है, वह सत्य अर्थात शरीर, मन तथा वाणी की अकुटिलता ही इसका आश्रय है । ऐसे अकुटिल सज्जन लोगों में ही विद्या आश्रय ग्रहण करती है, आसुरी प्रकृति के चालाक लोगों में नहीं; श्रुति में भी कहा है, ''जिनमें कपटता, मिथ्यात्व तथा चालाकी नहीं रहती।'' इसलिए सत्य की आश्रय रूप में कल्पना की जाती है । तप आदि में ही आश्रय रूप सत्य भी प्राप्त हो गया है, तथापि उसे दुबारा यह दिखाने के लिए कहा कि यह एक उत्कृष्ट साधन है । स्मृति में भी कहा है, ''हजार अश्वमेध-यज्ञों का फल को तराजू के एक पलड़े पर चढ़ाया जाय और सत्य को दूसरे पलड़े पर, तो हजार अश्वमेधों की अपेक्षा सत्य ही भारी निकलेगा ।''

ग्रन्थावगाहन का फल

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ।।९।। (३४)

अन्वयार्थ – **यः वै** जो कोई भी **एताम्** इस उपनिषद् को **एवम्** इस प्रकार **वेद** जानता है; **(सः)** वह **पाप्मानम्** पापों का **अपहत्य** नाश करके **अनन्ते** अनन्त **ज्येये** महत्तर **स्वर्गे** आनन्दमय **लोके** ब्रह्म में **प्रतितिष्ठति** स्थित हो जाता है ।

भावार्थ – जो व्यक्ति यथोक्त उपनिषद् को इस प्रकार जानता है, वह पापों को दूर करके, अनन्त, श्रेष्ठ, आनन्दमय ब्रह्म में स्थित हो जाता है (पुनः कथन समाप्ति का द्योतक है)।

भाष्य - यो वै एतां ब्रह्मविद्याम् 'केनेषितम्' (के. १.१) इत्यादिना यथोक्ताम् एवं महाभागाम् 'ब्रह्म ह देवेभ्यः' (के. ३.१) इत्यादिना स्तुतां सर्व-विद्या-प्रतिष्ठां (मु. १.१.१) वेद 'अमृतत्वं हि विन्दते' (के.२.४) इति उक्तम् अपि ब्रह्मविद्या-फलमन्ते निगमयति - अपहत्य पाप्मानम् अविद्या-काम-कर्म-लक्षणं संसारबीजं विधूय अनन्ते अपर्यन्ते स्वर्गे लोके सुखात्मके ब्रह्मणि इति एतत् । अनन्ते इति विशेषणात् न त्रिविष्टपे अनन्त-शब्द औपचारिको अपि स्याद् इत्यतः आह - ज्येये इति । ज्येये ज्यायसि सर्व-महत्तरे स्वात्मनि मुख्ये एव प्रतितिष्ठति । न पुनः संसारम् आपद्यते इति अभिप्रायः ।।९।।

जिस ब्रह्मविद्या का 'केनेषितम्' आदि के द्वारा निरूपण किया गया है, महाभाग्यशाली 'देवताओं के सामने ब्रह्म प्रकट हुए' आदि के द्वारा जिसकी स्तुति की गयी है और सर्व विद्याओं के आधार रूप 'उसको जाननेवाला मोक्ष को प्राप्त करता है' – इस प्रकार फलश्रुति कह दिये जाने के बाद, अब अन्त में उपसंहार करते हैं । (ज्ञानी) पापों अर्थात् संसार (आवागमन) के बीजभूत अज्ञान-काम-कर्म से मुक्त होकर अनन्त स्वर्गलोक रूपी आनन्दमय ब्रह्म में स्थित हो जाता है । अनन्त रूप विशेषण को त्रिविष्टप या देवताओं का लोक नहीं, बल्कि स्वर्ग का विशेषण समझना चाहिए । यदि कहो कि अनन्त शब्द सापेक्ष या गौण अर्थ में भी हो सकता है, इसीलिए कहा है ज्येये – श्रेष्ठतर, महत्तर अर्थात् जो सबसे महान् है, उस अपनी मुख्य आत्मा में स्थित हो जाता है । तात्पर्य यह है कि वह पुनः इस (आवागमन रूप) संसार को प्राप्त नहीं होता ।।९।।

इति चतुर्थः खण्डः । केनोपनिषतभाष्यम् सम्पूर्णम् ।

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलम् इन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं, माहं ब्रह्म निराकुर्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोद्, अनिराकरणमस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्तेमयि सन्तु, ते मयि सन्तु । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

अन्वयार्थ – ॐ । **मम** मेरे **अङ्गानि** सारे अंग – **वाक्** वाणी **प्राणः** प्राण **चक्षुः** नेत्र **श्रोत्रम्** कर्ण **अथो** तथा **बलम्** बल **च** और **सर्वाणि** समस्त **इन्द्रियाणि** इन्द्रियाँ **आप्यायन्तु** पुष्ट हों । **सर्वम्** सब कुछ **औपनिषदम्** उपनिषदों का प्रतिपाद्य **ब्रह्म** ब्रह्म (है) । **अहम्** मैं **ब्रह्म** ब्रह्म का **मा निराकुर्याम्** परित्याग न करूँ । **ब्रह्म** ब्रह्म **मा** मेरा **मा निराकरोत्** परित्याग न करे । (ब्रह्म द्वारा) मेरा **अनिराकरणम्** परित्याग न **अस्तु** हो । **मे** मेरे द्वारा (ब्रह्म का) **अनिराकरणम्** परित्याग न **अस्तु** हो । **उपनिषत्सु** उपनिषदों में (कथित) **ये** जो **धर्माः** धर्म हैं, **ते** वे **तत्-आत्मनि** उन परमात्मा में **निरते** (के चिन्तन में) निरत **मयि** मुझमें **सन्तु** आ जायँ **ते** वे **मयि** मुझमें **सन्तु** आ जायँ । **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः** ।

भावार्थ – ॐ । मेरे सभी अंग – वाणी, प्राण, नेत्र, कान (आदि ज्ञानेन्द्रियाँ), बल तथा समस्त कर्मेन्द्रियाँ – पुष्ट हों । (जगत् में) सब कुछ उपनिषदों का प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है । ब्रह्म की मैं उपेक्षा न करूँ, ब्रह्म (भी) मेरी उपेक्षा न करे । (ब्रह्म के द्वारा) मेरा परित्याग न हो और मैं (भी ब्रह्म का) परित्याग न करूँ । उपनिषदों में कथित (सत्य, तप आदि) धर्म आत्मोपलब्धि में प्रयासरत मुझ (साधक) को प्राप्त हों, वे सब मुझे प्राप्त हों । त्रिविध तापों की शान्ति हो । ❖ (समाप्त) ❖

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित – गतांक से आगे)

— १०० —

प्रभु की इच्छा ही पूर्ण होती है । भले ही हम समझें या न समझ सकें, परन्तु मंगलमय प्रभु जो करते हैं, उसी में मंगल है – इसमें तनिक भी सन्देह नहीं । हाँ, समझ पाने पर आनन्द की सीमा नहीं रहती ।

प्रभु ने तुम्हें जितनी सुन्दर बुद्धि दी है और तुमसे जितने सुन्दर भाव से सारी परिस्थितियाँ स्वीकार करायी है, उसे जान कर मैं विशेष रूप से आनन्दित हो रहा हूँ । सात्त्विक बुद्धि का उदय होने पर ऐसा ही होता है, हृदय में असद्भाव प्रवेश ही नहीं कर पाता । सात्त्विक बुद्धि भले-बुरे सब में अच्छाई ही देखती है, बुराई नहीं । प्रभु की विशेष कृपा होने पर ऐसा भाव प्राप्त होता है और यही भाव पूर्णरूपेण आयत्त हो जाने पर सारे दुःखो का अवसान हो जाता है । धन्य है प्रभु की कृपा!

प्रभु को केन्द्र बनाकर जितनी भी चर्चा हो उतना ही मंगल है । इस संसार में वे ही एकमात्र सार वस्तु है – ठाकुर इसी बात का बारम्बार उपदेश कर गये हैं । कवि* का कहना है – "कल्पना में जितना सुख है और आशंका में जितना दुःख है, वास्तविक जीवन मे वैसा नहीं होता । फिर भी चिरकाल से मानव सोचकर ही व्यग्र होता रहता है ।" यह बात अत्यन्त सत्य है । हम लोग सोचकर ही अधीर होते हैं, नहीं तो सब कुछ सहन करना सम्भव है ।

ठाकुर कहा करते थे कि जैसे पुलिया के नीचे एक ओर से जल आता है और दूसरी ओर से निकल जाता है, वैसे ही जिनका धन सत्कर्म मे व्यय होता है, वे कभी बद्ध नही होते । धन का लेन-देन करने पर भी वे मुक्त पुरुष के समान ही रहते है । स्वामीजी भी कहते थे कि जैसे घर का द्वार खुला रहने पर वायु दूषित नही होती, वैसे ही जिनका धन सत्कर्म में जाता है, उन्हे मलिनता स्पर्श तक नही कर सकती ।

वे जैसे रखें वही अच्छा है । यदि वे मन को अपने चरण-कमलो मे स्थिर रहने दे; तो फिर चाहे जैसी भी परिस्थिति आए, कोई अन्तर नही पड़ता । कठिन बीमारी के समय भी मैने ठाकुर को चुटकी बजाते हुए यह कहते सुना है – "दुःख जाने और शरीर जाने पर मन तू आनन्द में मग्न रह ।" मन यदि आनन्द मे अर्थात् भगवान में रहे, तो फिर शरीर में दुःख-कष्ट होने से भी क्या? मन का कष्ट ही तो प्रबल और असह्य होता है । उसी मन को प्रभु यदि कृपापूर्वक अपने पादपद्मो में लगाए रखें, तो दुःख भी दुःख जैसा प्रतीत नही होगा ।

* 'महिला' नामक बँगला काव्य के रचयिता कवि सुरेन्द्रनाथ मजुमदार

यह परम आनन्द की बात है कि श्रीमाँ शीघ्र ही कलकत्ते आने वाली हैं । अनगिनत लोग उनके श्रीचरणों में आकर शान्ति पाएँगे । धन्य है माँ की कृपा! और उनमें सहनशीलता भी कैसी है! दिखावे का भाव तो बिल्कुल है ही नहीं । दिन-रात लोगों का ताँता लगा हुआ है और वे अक्लान्त भाव से सभी का कल्याण किए जा रही हैं । श्रीमाँ के कलकत्ते आने पर तुम्हारा अपने पुत्र के साथ वहाँ जाने का संकल्प अत्यन्त उत्तम है । "गोरस बेचन हरि मिलन एक पन्थ दो काज"* होगा । गोपियाँ घर से गोरस अर्थात् दूध बेचने के बहाने निकल कर 'हरि मिलन अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ मिला करती थीं, इसीलिए 'एक पंथ' – एक ही रास्ते में दोनों कार्य पूरे हो जाते थे । क्या ही सुन्दर भाव है! सब कुछ उन्हीं के लिए करना । पहले वे, फिर बाकी सब । गोपियो के समान दृढ़ निष्ठा अब कहाँ है? चित्त जितना ही निर्मल होता है, यह भाव उतना ही अधिक समझ में आता है । तुम लोगों पर प्रभु की कृपा है, क्रमशः सब कुछ समझ सकोगे । उनकी दया रहने पर किसी भी वस्तु का अभाव नहीं रह जाता ।

"राजा जनक महा तेजस्वी थे, उनमें कोई त्रुटि न थी । वे इधर और उधर (इहलोक और परलोक) दोनों ओर सँभालकर चलते थे, तभी तो दूध का कटोरा साफ कर देते थे!" – यही बात कहकर ठाकुर अपने गृहस्थ भक्तों के साथ कितना ही आनन्द किया करते थे । चाहे घर में रहो या वन में, असल बात है कि 'तद्गतान्तरात्मा' होना होगा । उन्हें न पा सके तो वन जाने से क्या लाभ? और उनमें मन रखकर चाहे जहाँ भी निश्चिन्त होकर रह सकते हो । उन्हें चाहना होगा – उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते उन्हीं का स्मरण करना होगा । उनकी कृपा से सब ठीक हो जाएगा ।

ठाकुर कहा करते थे कि साँप और साधु अपने लिए घर नहीं बनाते, दूसरों के घर में ही निवास करते हैं । यही उत्तम विचार है, अब यह अच्छी तरह समझ में आ रहा है कि घर बसाना अत्यन्त दुःखपूर्ण है ।

उनके भक्त को कोई भय या चिन्ता नहीं रहती, यही बात मैंने गीता (९/३१) से "कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति"– उद्धृत कर कही थी । भगवान अर्जुन से कहते हैं – "हे कुन्तीपुत्र, तुम सभी से प्रतिज्ञा करके कहना कि मेरे भक्त का विनाश नही होता ।"

* चलो सखी तहँ जाइये जहाँ मिले व्रजराज ।
गोरस बेचन हरि मिलन एक पंथ दो काज ।। (सूरदास)

शुद्धा -भक्ति की प्राप्ति देवताओं तक के लिए दुर्लभ है । जिस शुद्धा-भक्ति से भगवान तक बँधे रहते हैं, वह क्या सहज ही मिल जाती है? इस सम्बन्ध में ठाकुर एक भजन गाया करते थे – "मुझे मुक्ति देते हुए असुविधा नहीं होती, परन्तु शुद्धा भक्ति देते हुए होती है ।" रामप्रसाद कहते हैं – "सर्व साधनों का मूल भक्ति है और मुक्ति तो उसकी दासी है ।" प्रभु से वास्तविक प्रेम हो जाने पर कुछ भी शेष नहीं रह जाता ।

गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह पत्नी के साथ धर्मचर्चा करे । अत: अपनी पत्नी के साथ जो तुम 'वचनामृत' इत्यादि का पाठ करते हो, इससे नि:सन्देह बहुत उपकार होगा । दोनों के मन तथा उद्देश्य में समानता होने पर सर्वतोभावेन सुखी हो सकोगे । न – ने बहुत ही अच्छा उपदेश दिया है । तुम लोग प्रभु के आदर्श गृही भक्त बनो, जीवन का इससे बढ़कर दूसरा कौन सा उद्देश्य हो सकता है ? "माँ काली का भक्त जीवन्मुक्त और नित्यानन्दमय है" – ठाकुर बहुधा यह भजन गाया करते थे । उनका भक्त बनकर चाहे जहाँ भी रहो – सोना बन जाने के बाद घूरे में पड़े रहने पर भी सोना ही रहोगे । "कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति – हे कुन्तीपुत्र, तुम सबसे प्रतिज्ञापूर्वक कहना कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता ।" – ये प्रभु के शब्द हैं । मेरी शुभ कामनाएँ व स्नेह स्वीकार करना ।

— १०१ —

प्रभु की जो इच्छा होगी, वही होगा । जो आया है वह उन्हीं की इच्छा से, और यदि जाय तो भी उन्हीं की इच्छा से होगा । इसके अलावा दूसरी कोई चिन्ता करने से लाभ नहीं । "तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो" – यही निश्चित करके हम चिन्तामुक्त हो गए हैं । निश्चिन्त होने का दूसरा कोई भी उपाय नहीं ।

उन्हीं की इच्छा से सब कुछ हो रहा है – इसी भाव को प्रबल करने पर हृदय में दिव्य शान्ति का उदय हुआ था । वास्तव में सब कुछ उन्हीं की इच्छा के अधीन है । चाहे हम इसे समझे या न समझें, परन्तु वे जो करते हैं वही होता है । यही ध्रुव सत्य है – उनकी कृपा से इसे समझ पाने पर चित्त में शान्ति विराजती है, नहीं तो हानि-लाभ, शोक-हर्ष आदि से मन क्षुब्ध हो जाता है । उन पर पूर्णरूपेण निर्भर रहने पर ही यथार्थ रूप से सुखी हुआ जा सकता है । परन्तु उस अवस्था को प्राप्त करना उनकी कृपा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय के द्वारा सम्भव नहीं है । अनन्य शरण होकर उनके द्वार पर पड़े रहने से नि:सन्देह उनकी कृपा होती है । सरल अन्त:करण से प्राणसहित की हुई प्रार्थना वे सुनते हैं ।

अपने पुत्र को कुछ क्षणों के लिये श्रीमाँ के चरणों में रखकर तुमने एक बड़ा ही सुन्दर भाव व्यक्त किया है । इसी तरह पत्नी, धन, जन यहाँ तक कि अपने आपको भी उनके श्रीचरणों में समर्पित कर पाने पर जीवन धन्य हो जाता है । भक्ति की मनोकामना वे स्वयं ही पूरी करते हैं ।

— १०२ —

यह जानकर निश्चिन्त रहना कि तुम प्रभु का कार्य कर रहे हो । दु:खी क्यों होते हो ? "यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।"* सब में वे ही विद्यमान हैं और सब कुछ वे ही हैं – यह चिन्तन करते-करते ही सिद्धि प्राप्त होगी, कल्पना साकार हो उठेगी । ऐसा ही तो होता है । पहले कल्पना करनी पड़ती है, बाद में वही सत्य हो जाता है ।

— १०३ —

तुम्हारे पत्र से यह जानकर आनन्दित हुआ कि तुम्हारा कार्य भलीभाँति चल रहा है । मन-प्राण लगाकर यथासाध्य कार्य करने पर इहलोक तथा परलोक दोनों बन जाते हैं । "यथा भाव तथा लाभ" – ठाकुर के इस महावाक्य को सर्वदा स्मरण रखने का प्रयास करना । किसी में भी इतनी क्षमता नहीं कि वह प्रभु का अभिप्राय समझ सके । वे महा-अमंगल के बीच से भी मंगल-विधान किया करते हैं । ऊपर से यह सब महा अनर्थकर प्रतीत होने पर भी उनका उद्देश्य अवश्य ही कल्याणकारी है, क्योंकि वे मंगलमय और करुणासिन्धु हैं ।

इस बार बंगाल पर प्रकृति की प्रबल कोपदृष्टि है, फिर बाँकुड़ा में सूखे के कारण अकाल पड़ा है । सुनने में आया है कि उड़ीसा में भी राहत-कार्य प्रारम्भ करने की जरूरत होगी । प्रभु की इच्छा ही पूर्ण होगी । हम अपना कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हा जाने पर अपने आपको धन्य एवं कृतार्थ समझेंगे ।

— १०४ —

तुम अब काफ़ी शान्तिपूर्वक हो, यह जानकर आनन्दित हुआ । तुम्हें विचार में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से ही मैंने वैसा पत्र लिखा था । स्वयं विचार किये बिना कोई भी विषय हृदय में दृढ़ नहीं होता । प्रसन्नता की बात है कि मेरा उद्देश्य सफल हुआ और तुम्हें विचार के द्वारा पत्र का मर्म समझना पड़ा । मैं चाहता तो पत्र को और भी सरल भाव से लिख सकता था, परन्तु जानबूझकर तुम्हें चिन्तनशील बनाने के लिये ही मैंने ऐसा प्रयत्न किया था । चलो, अच्छा ही हुआ । अब बहुत से विषयों में तुम प्रश्न करने की अपेक्षा स्वयं ही समाधान करने का प्रयास करोगे ।

* हे शम्भो, मैं जो कुछ भी कर्म करता हूँ, वह सब तुम्हारी ही आराधना के लिए है । (शिव-मानस-पूजा-स्तोत्रम्, ४)
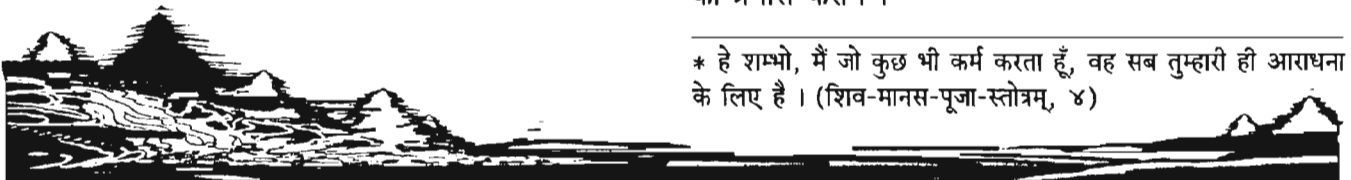
स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' मे हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है। – सं.)

८. स्तोत्र-रत्न (उत्तरार्ध)

स्फुरत्किरीटाङ्गदहारकण्ठिका-
मणीन्द्रकाञ्चीगुणनूपुरादिभिः।
रथाङ्गशङ्खासिगदाधनुर्वरैः
लसत्तुलस्या वनमालयोज्ज्वलम् ।।३६।।

– तुम दीप्तिमान मुकुट, भुजाबन्द, कंठिका हार, मणिश्रेष्ठ, कमरबन्द, नूपुर आदि और चक्र, शंख, खड्ग, श्रेष्ठ धनुष तथा सुन्दर तुलसीपत्र सहित वनफूलों की माला से सुशोभित हो रहे हो।

चकर्थ यस्या भवनं भुजान्तरं
तव प्रियं धाम यदीय जन्मभूः।
जगत्समस्तं यदपाङ्गसंश्रयं
यदर्थमम्भोधिरमन्थ्यबन्धि च ।।३७।।

– तुम्हारा वक्षस्थल जिनका भवन है, जिनकी जन्मभूमि क्षीरसागर तुम्हारा प्रिय आवास है, जिनकी कटाक्ष का आश्रय लेकर समग्र जगत् स्थित है, जिन्हें प्राप्त करने के लिये समुद्र का मन्थन तथा बन्धन किया गया था।

स्ववैश्वरूप्येण सदानुभूतया-
प्यपूर्ववद्विस्मयमादधानया।
गुणेन रूपेण विलासचेष्टितैः
सदा तवैवोचितया तव श्रिया ।।३८।।

– उन लक्ष्मीदेवी का संगसुख यद्यपि तुम अपने विश्वरूप द्वारा सर्वदा अनुभव करते रहते हो, तथापि वे नित्य नव नव रूप धारण करके तुम्हे विस्मित करती रहती है और गुण, रूप, विलास तथा चेष्टा द्वारा सदैव तुम्हारे सुयोग्य हुआ करती हैं।

तया सहासीनमनन्तभोगिनि
प्रकृष्टविज्ञानबलैकधामनि।
फणामणिव्रातमयूखमण्डल-
प्रकाशमानोदरदिव्य धामनि ।।३९।।

– जो अनन्त नाग परम उत्कृष्ट ज्ञान तथा बल के एकमात्र धाम है, जिनके फनो पर स्थित मणियों की किरणावलि से उनके पेट का दिव्य सौन्दर्य प्रकट हो रहा है, तुम उन लक्ष्मीदेवी के साथ उन्ही के ऊपर आसीन रहा करते हो।

निवासशय्यासनपादुकांशुको-
पधानवर्षातपवारणादिभिः।
शरीर भेदैस्तव शेषतां गतैः
यथोचितं शेष इतीरिते जनैः ।।४०।।

– वे शेष नाग अपने शरीर के विभिन्न अंगों के निवास, शय्या, आसन, पादुका, वस्त्र, तकिया और धूपवर्षा निवारक छत्र आदि के आकार धारण कर तुम्हारी अनन्त प्रकार से सेवा किया करते हैं, अतः लोगों ने उन्हें 'शेष' की उचित आख्या ही दी है।

दासः सखा वाहनमासनं ध्वजो
यस्ते वितानं व्यजनं त्रयीमयः।
उपस्थितं तेन पुरो गरुत्मता
त्वदङ्घ्रिसम्पर्क किणाङ्कशोभिना ।।४१।।

– जो तुम्हारे चरण-घर्षण के चिह्न से शोभायमान हैं; जो तुम्हारे नित्य दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, चँदोवा तथा व्यजन हैं और जो वेदमय विग्रह हैं, वे गरुड़ सर्वदा तुम्हारे सम्मुख उपस्थित रहते है।

त्वदीयभुक्तोज्झितशेषभोजिना
त्वया विसृष्टात्मभरेण यद्यथा।
प्रियेण सेनापतिना निवेदितं
तथानुजानन्तमुदारवीक्षणैः ।।४२।।

– जो तुम्हारे भोजन से बचा हुआ आहार ग्रहण करते हैं और जिनके ऊपर तुम पालन का भार देकर निश्चिन्त हो, वे प्रिय सेनापति (विष्वक सेन) जो कुछ तुम्हारे सामने प्रस्तुत करते हैं, उसका तुम अपनी उदार दृष्टि से अनुमोदन कर देते हो।

हताखिलक्लेशमलैः स्वभावतः
सदानुकूल्यैकरसैस्तवोचितैः।
गृहीततत्तत्परिचारसाधनैः
निषेव्यमानं सचिवैर्यथोचितम् ।।४३।।

– जिनके समुदय दुःख तथा मालिन्य का नाश हो गया है, स्वभाव से ही तुम्हारी इच्छा के अनुरूप रहना जिनका एकमात्र लक्ष्य है, जो लोग सर्व प्रकार से तुम्हारे लिये उपयोगी हैं, जो सर्वदा अपने सेवाकर्म के साधन धारण किये रहते हैं, तुम उन समस्त सचिवों द्वारा उचित प्रकार से सेवित होते हो।

अपूर्वनानारसभावनिर्भर-
प्रबुद्धया मुग्धविदग्धलीलया।
क्षणाणुवत् क्षिप्तपरादिकालया
प्रहर्षयन्तं महिषीं महाभुजम् ।।४४।।

– हे महाभुजासम्पन्न! तुम अपने विभिन्न नव नव रसों तथा भावों से युक्त मनोहर चतुरतापूर्ण क्रीड़ा द्वारा, जो कल्पव्यापी

* वेदान्तदेशिक कृत स्तोत्ररत्न भाष्यम्, १

सुदीर्घ काल को क्षणमात्र से भी छोटा बोध कराता है, अपनी महिषी को आनन्दित करते रहते हो ।

अचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्ययौवन-
स्वभावलावण्य मयामृतोदधिम् ।
श्रियः श्रियं भक्तजनैकजीवितं
समर्थमापत्सखमर्थिकल्पकम् ।।४५।।

– तुम अचिन्त्य हो, दिव्य हो, अद्भुत हो, नित्ययुवा हो, लावण्यमय सुधासागर हो, श्रीदेवी को भी शोभायमान करने-वाले हो, भक्तों के एकमात्र आधार हो, सामर्थ्यवान हो, विपत्ति काल के मित्र हो और याचकों के लिये कल्पवृक्ष-स्वरूप हो ।

भवन्तमेवानुचरन्निरन्तरं
प्रशान्तनिःशेषमनोरथान्तरः ।
कदाहमैकान्तिकनित्यकिङ्करः
प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवितः ।।४६।।

– कब मै अपने समुदय कामनाओं को शान्त करके, एकमात्र तुम्हारा ही नित्यदास होकर इस जीवन को सार्थक करते हुए, मैं सर्वदा तुम्हारी सेवा में निरत रहकर तुम्हें प्रसन्न करने में समर्थ होऊँगा?

धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं
परमपुरुष योऽहं योगिवर्याग्रगण्यैः ।
विधिशिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरं
तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः ।।४७।।

– मुझ अपवित्र, अविनीत, निर्दय, निर्लज्ज को धिक्कार है, क्योंकि हे पुरुषोत्तम! श्रेष्ठ योगियों में अग्रगण्य ब्रह्मा-शिव-सनकादि जिसे ध्यान में नहीं ला पाते, मैं कामभाव से परिपूर्ण होकर भी तुम्हारे उस दास्यभाव के लिये प्रार्थना कर रहा हूँ ।

अपराध सहस्रभाजनं
पतितं भीमभवार्णवोदरे ।
अगतिं शरणागतं हरे
कृपया केवलमात्मसात्कुरु ।।४८।।

– मैं हजारों अपराधों का कर्ता हूँ, भीषण भवसमुद्र में पड़ा हुआ हूँ । हे हरि! मेरी अन्य गति नहीं, तुम्हारा चरणाश्रित हूँ, कृपा करके मुझे अपना लीजिये ।

अविवेकघनान्धदिङ्मुखे
बहुधा सन्तत दुःखवर्षिणी ।
भगवन् भवदुर्दिने पथः
स्खलितं मामवलोकयाच्युत ।।४९।।

– इस संसार रूपी प्रबल वर्षा के आगमन से, अज्ञानमेघ द्वारा सभी दिशाएँ अन्धकाराच्छन्न हो गई हैं, विभिन्न प्रकार के दुःखवारि के निरन्तर वर्षण से मैं रास्ता भी भूल गया हूँ; हे भगवन्! हे अच्युत! मुझ पर कृपादृष्टि करो ।

न मृषा परमार्थमेव मे
शृणु विज्ञापनमेकमग्रतः ।
यदि मे न दयिष्यसे ततो
दयनीयस्तव नाथ दुर्लभः ।।५०।।

– हे नाथ पहले तो मेरा एक निवेदन सुनिए, मैं झूठ नहीं केवल सत्य ही कर रहा हूँ । यदि मुझ पर दया न करो, तो ऐसा दयनीय पात्र तुम्हें अन्यत्र नहीं मिलेगा ।

तदहं त्वदृते न नाथवानम्
मदृते त्वं दयनीयवान्न च ।
विधिनिर्मितमेतमन्वयं
भगवन् पालय मास्म जीहपः ।।५१।।

– अतएव तुम्हारे अतिरिक्त मेरे लिये कोई अन्य उपयुक्त स्वामी नहीं हो सकता और तुम्हें भी मुझसे अधिक उपयुक्त कृपापात्र नहीं मिलेगा । तुम्हारे तथा मेरे बीच का यह प्रभु-भृत्य सम्बन्ध विधाता द्वारा ही रचा हुआ है । अतः हे भगवन्! मुझे स्वीकार करो, परित्याग नहीं ।

वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा
गुणतोऽसानि यथातथाविधः ।
तदयं तव पादपद्मयो-
रहमद्यैव मया समर्पितः ।।५२।।

– देहादि के सम्बन्ध में मैं चाहे जो भी क्यों न होऊँ, गुणों के विषय में मैं चाहे जैसा भी क्यों न होऊँ, आज मैं अपने इस 'अहं' को तुम्हारे श्री पादपद्मों में समर्पित करता हूँ ।

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं
सकलं तद्धि तवैव माधव ।
नियतं स्वमिति प्रबुद्धधी-
रथवा किं नु समर्पयामि ते ।।५३।।

– हे नाथ! हे माधव! मैं जो भी हूँ और जो कुछ मेरा है, वह सब वस्तुतः तुम्हारा ही है । जब मुझे ऐसा ज्ञान हो गया है कि सदा सब कुछ तुम्हारा है, तो फिर तुम्हें क्या समर्पित करूँगा ।

अवबोधितवानिमां यथा
मयि नित्यां भवदीयतां स्वयम् ।
कृपयैव मनन्य भोग्यतां
भगवन् भक्तिमयि प्रयच्छ मे ।।५४।।

– हे भगवन्! जैसे तुमने स्वयं ही मेरे भीतर 'मैं चिरकाल से तुम्हारा ही हूँ' – यह भाव जगा दिया है; वैसे ही अब कृपा करके मुझे वह भक्ति प्रदान करो, जिसके द्वारा मैं तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का भोग करने में समर्थ न होऊँ ।

तव दास्यसुखैकसङ्गिनां
भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे ।
इतरावसथेषु मा स्म भूदपि
मे जन्म चतुर्मुखात्मना ।।५५।।

– जो केवल तुम्हारे दास्यसुख के ही आकांक्षी हैं, उनके घर मैं कीट रूप में जन्म लूँ तो भी अच्छा है, परन्तु अन्य भाववाले लोगों के घर मैं चतुर्मुख ब्रह्मा होकर भी जन्मना नहीं चाहूँगा ।

सकृत्त्वदाकारविलोकनाशया
तृणीकृतानुत्तमभुक्तिमुक्तिभिः ।
महात्मभिर्मामवलोक्यतां नय
क्षणेऽपि ते यद्विरहोऽतिदुस्सहः ।।५६।।

– जिन महात्माओं ने केवल एक बार तुम्हारे श्री विग्रह के दर्शन की आशा में सर्वोत्कृष्ट भोगों तथा मोक्ष को तृण के समान समझा है, उन्ही के समान मुझे भी उस दर्शन की योग्यता प्रदान करो; क्योकि क्षण भर के लिये भी तुम्हारा विरह मुझे दु:सह प्रतीत हो रहा है ।

न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितं
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात् ।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
विनाशं तत्सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम् ।।५७।।

– हे नाथ! तुम्हारे दासत्व रूपी ऐश्वर्य को छोड़कर मैं क्षण मात्र के लिये भी देह, प्राण, सर्वजन वांछित सुख, आत्मा या अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता । ये सभी सैकड़ों प्रकाश सैकड़ों प्रकार से विनष्ट हो जायँ । हे मधुसूदन! यह सत्य है, यही मेरा तुम्हारे श्रीचरणों में निवेदन है ।

दुरन्तस्यानादेरपरिहरनियस्य महतो
निहीनाचारोऽहं नृपशुरशुभस्यास्पदमपि ।
दयासिन्धो बन्धो निरवधिकवात्सल्य जलधे
तव स्मारं स्मारं गुणगणमितीच्छामि गतभीः ।।५८।।

– हे दयासागर! हे बन्धु! हे अनन्त स्नेहसिन्धु! यद्यपि मैं दुश्छेद्य, अनादि, अनिवार्य, महान् अमंगल का पात्र हूँ, अतीव दुराचारी और नरपशुतुल्य हूँ; तो भी बारम्बार तुम्हारे अशेष गुणो का स्मरण करते हुए निर्भय होकर ऐसी प्रार्थना करता हूँ।

अनिच्छन्नप्येवं यदि पुनरितीच्छन्निव रज-
स्तमश्छन्नश्छद्म स्तुति वचनभङ्गीमरचयम् ।
तथापीत्थं रूपं वचनमवलम्ब्यापि कृपया
त्वमेवैवम्भूतं धरणिधर मे शिक्षय मनः ।।५९।।

– हे धरणीधर! यद्यपि रज: तम: से आच्छन्न होकर इच्छा न होते हुए भी इच्छा का भान करते हुए मैने इस मौखिक स्तव की रचना की है, तथापि कृपया मेरे इस वचन को ग्रहण करके तुम मेरे ऐसे मन को शिक्षा प्रदान करो ।

पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्
त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरसि गतिश्चासि जगताम् ।
त्वदीयस्त्वद्भृत्यस्तव परिजनस्त्वद्गतिरहं
प्रपन्नश्चैवं सत्यहमपि तवैवास्मि हि भरः ।।६०।।

– तुम्ही पिता हो, माता हो, दुलारे पुत्र हो, प्रिय सुहृद हो, मित्र हो, तुम्ही जगत् के गुरु तथा आश्रय हो । मैं तुम्हारा भृत्य हूँ, तुम्हारा स्वजन हूँ; तुम मेरे आधार हो, मैं तुम्हारे शरणागत हूँ; ऐसी हालत में सचमुच ही मैं तुम्हारे लिये भार-स्वरूप हूँ ।

जनित्वाहं वंशे महति जगति ख्यातयशसां
शुचीनां युक्तानां गुणपुरुषतत्त्वस्थितिविदाम् ।
निसर्गादेव त्वच्चरणकमलैकान्तमनसाम-
धोऽधः पापात्मा शरणद निमज्जामि तमसि ।।६१।।

– यद्यपि मैंने सुप्रसिद्ध, पवित्र, योगियो, त्रिगुण तथा पुरुष का यथार्थ तत्त्व जाननेवालों और तुम्हारे पादपद्मों में स्वभावत: अनन्य भक्ति रखनेवालों के महान वंश में जन्म लिया है; तथापि हे शरणदाता! मैं दुष्टात्मा अन्धकार से और भी अन्धकार में डूबता जा रहा हूँ ।

अमर्यादः क्षुद्रश्चलमतिरसूयाप्रसवभूः
कृतघ्नो दुर्मानी स्मरपरवशो वञ्चनपरः ।
नृशंसः पापिष्ठः कथमहमितो दु:खजलधे-
रपारादुत्तीर्णस्तव परिचरेयं चरणयोः ।।६२।।

– मैं उच्छृंखल हूँ, क्षुद्र हूँ, चंचलमति हूँ, ईर्ष्या की जन्मभूमि हूँ, कृतघ्न, अभिमानी, कामपरायण, धोखेबाज, निष्ठुर तथा पापी हूँ । भला मै कैसे इस दु:खसागर से उत्तीर्ण होकर तुम्हारे पादपद्मो की सेवा कर सकूँगा?

रघुवर यदभूस्त्वं तादृशो वायसस्य
प्रणत इति दयालुर्यच्च चैद्यस्य कृष्ण ।
प्रतिभवमपराद्धुर्मुग्ध सायुज्यदोऽभू-
र्वद किमपदमागस्तस्य तेऽस्ति क्षमायाः ।।६३।।

– हे रघुवर! जब ऐसा दुष्ट कौआ भी प्रणत हुआ तो तुम उस पर दयालु हो गये थे; हे कृष्ण! जब प्रति जन्म में तुम्हारे प्रति अपराधी होने पर भी तुमने चेदिराज शिशुपाल को आनन्दमय कैवल्य प्रदान किया था, तो बताओ ऐसा कौन-सा पाप है, जिसे तुम क्षमा नहीं कर सकते?

ननु प्रपन्न सकृदेव नाथ
तवाहमस्मीति च याचमानः ।
तवानुकम्प्यः स्मर तत्प्रतिज्ञां
मदेकवर्ज्यं किमिदं व्रतं ते ।।६४।।

– शरणागत व्यक्ति यदि एक बार भी 'मैं तुम्हारा हूँ' कहकर प्रार्थना करे, तो वह तुम्हारा कृपापात्र होगा – अपनी यह प्रतिज्ञा याद करो और बताओ कि क्या तुमने ऐसा व्रत लिया है कि यह मेरे अतिरिक्त अन्य सभी पर लागू होगा ।

अकृत्रिमत्वच्चरणारविन्द-
प्रेमप्रकर्षावधिमात्मवन्तम् ।
पितामहं नाथमुनिं विलोक्य
प्रसीद मद्वृत्तमचिन्तयित्वा ।।६५।।

– तुम्हारे चरणकमलों में स्वाभाविक प्रकृष्ट प्रेम के जो सीमास्वरूप हैं, उन आत्मवान पितामह नाथमुनि का स्मरण करके मेरे दुश्चरित्र पर ध्यान न देकर मुझ पर प्रसन्न होओ ।

इति श्रीयामुनाचार्यविरचितं स्तोत्ररत्नं सम्पूर्णम् ।

❖ (क्रमश:) ❖

हमारी मौलिक समस्याएँ और स्वामी विवेकानन्द द्वारा निर्दिष्ट समाधान

स्वामी सत्यरूपानन्द

आइये, स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रसारित और प्रचारित उन विचारों को थोड़ा देखें, जिनका संबंध हमारे जीवन और देश से हैं। आज स्वाधीनता के ५३ वर्षों बाद हमारा देश एक बहुत बड़े संक्रान्ति के क्षणों से गुजर रहा है। स्वाधीनता और प्राक्-स्वाधीनता काल में हम लोगों में से अधिकांश की धारणा थी कि राजनैतिक पराधीनता ही हमारे दु:खों का कारण है और इसके दूर होते ही भारत पुन: अपना वैभव पा लेगा। पर इतिहास साक्षी है; आज हम अनुभव कर रहे हैं कि अपनी दुर्बलता के कारण ही हम राजनैतिक दृष्टि से पराधीन थे। हमारे दु:खों का कारण राजनैतिक पराधीनता नहीं थी। स्वामीजी ने इस राष्ट्र के प्राण का अनुभव किया था। परिव्राजक संन्यासी के रूप में उन्होंने पूरे भारतवर्ष का परिभ्रमण किया था। उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम। देश के राजे-महाराजे और सम्पन्न व्यक्तियों से लेकर समान्य लोगों तक स्वामीजी ने सबसे संपर्क करके राष्ट्र की आत्मा का अनुभव किया। वे विदेशों में गये, अमेरिका गये, यूरोप गये, संसार के और भी राष्ट्रों को उन्होंने प्रत्यक्ष देखा और उनके प्राण, उनकी आत्मा का अनुभव किया और तब उन्होंने भारत लौटकर अपने एक व्याख्यान में बताया कि जैसे प्रत्येक व्यक्ति का वैशिष्ट्य होता है, उसका व्यक्तित्व होता है, जिसके अनुसार वह अपने जीवन का विकास कर सफल हो सकता है; वैसे ही प्रत्येक राष्ट्र का भी अपना एक व्यक्तित्व होता है, वैशिष्ट्य होता है। विश्व के सबसे प्राचीन इस राष्ट्र – भारतवर्ष का भी अपना एक व्यक्तित्व है, एक वैशिष्ट्य है। स्वामीजी ने असंदिग्ध शब्दों में घोषणा की कि भारत की आत्मा धर्म है। धर्म ही हमारे राष्ट्र का मेरुदण्ड है। इस धर्म की अवहेलना करने के कारण ही भारतवर्ष का पतन हुआ था। आज भी यदि हम उन्नति के सोपान पर आरूढ़ नहीं हो पा रहे हैं, तो उसके मूल में धर्म की उपेक्षा ही है। स्वामीजी के समकालीन कुछ लोग, विशेषकर जो पाश्चात्य शिक्षा में शिक्षित थे, ऐसा मानते थे, ऐसा कहा करते थे कि धर्म ही तुम्हारे पतन का कारण है।

युगनायक विवेकानन्द ने पाञ्चजन्य शंखनाद के समान घोषणा की – नहीं, धर्म का आचरण न कर पाना ही हमारे देश की दुर्दशा का कारण है।

यह धर्म क्या है? हिंदू धर्म में ही अनेक सम्प्रदाय हैं। इस देश में अनेक दूसरे धर्म को माननेवाले भी लोग हैं। तो फिर स्वामीजी ने किस धर्म की बात कही? क्या उनका तात्पर्य किसी सम्प्रदाय-विशेष से था? नहीं, उन्होंने जिस धर्म की बात कही, वह विश्वजनीन सनातन वैदिक धर्म या वेदान्त-धर्म [था]। इस धर्म की मौलिक मान्यता ये हैं कि प्रत्येक प्राणी उसी दिव्य ब्रह्म का स्वरूप है, मनुष्य उस ब्रह्म की अभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है, इसलिए स्वामीजी के धर्म की प्रथम बात, प्रथम सोपान है – मनुष्य की दिव्यता। मानव की इस दिव्यता की अवहेलना करने के कारण ही हम गत १०००-१२०० वर्षों तक पराधीन रहे; पराधीनता के अपार कष्ट सहे। हमारे राष्ट्र जीवन में विकृतियाँ आयीं। स्वामीजी ने कहा – अपने अतीत का अध्ययन करो, उस पर गर्व करो। हम भले ही हजार-बारह सौ वर्ष पराधीन रहे, पर हमारा राष्ट्र दस हजार वर्ष पुराना है। इस राष्ट्र ने हजारों वर्षों तक विश्व का मार्गदर्शन किया, जगद्गुरु कहलाया और भौतिक सम्पदा की दृष्टि से भी हम सम्पन्न राष्ट्र थे। पृथ्वी के दूसरे राष्ट्र हमारे देश को सोने की चिड़िया कहा करते थे। यह इसलिए सम्भव हो सका था कि हमने अपने उस वैदिक संदेश में विश्वास किया था कि हम वही नित्य, मुक्त, शुद्ध बुद्ध चैतन्य आत्मा हैं, व्यक्ति का असल व्यक्तित्व उसकी दिव्यता है।

मनुष्य की इस दिव्यता को अभिव्यक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने जीवन में धर्म का आचरण करें। भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने अपने जीवन में यह प्रदर्शित किया, दिखा दिया कि संसार के सभी धर्म ईश्वर को प्राप्त करने के मार्ग है। अत: संसार के सभी धर्मों का सम्मान करो, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपने धर्म को भूल जायँ। जो व्यक्ति जिस धर्म में विश्वास रखता है, निष्ठा रखता है, उस क्षेत्र में उसकी सहायता अवश्य करो, पर यदि कोई हमारे धर्म में दोष देखे, यदि कोई हमारे धर्म को अपमानित करने का प्रयत्न करे, तो भगवान कृष्ण का आदर्श हमारे सामने है।

धर्म के आचरण द्वारा मनुष्य के जीवन में असीम सामर्थ्य उत्पन्न होती है और उस सामर्थ्य के माध्यम से व्यक्ति न केवल स्वयं तथा अपने राष्ट्र का, बल्कि विश्व की रक्षा करने में समर्थ होता है। अत: अपने धर्म का आचरण और पालन करो। इस प्रकार तुम संसार के सभी धर्म के लोगों का मार्गदर्शन कर सकोगे। इसलिये हम लोग धर्म की रक्षा में विश्वास करते हैं, धार्मिक लोगों की सहायता में विश्वास करते हैं। धर्म-परिवर्तन के द्वारा किसी की जीवन-पद्धति में किसी भी प्रकार की वाधा देना, हमारी मान्यता के विरुद्ध है। अत: हमारा विश्वास है कि जब संसार के सभी धर्म ईश्वरप्राप्ति के मार्ग है, तो व्यक्ति अपनी इच्छा से, अपनी रुचि से किसी भी धर्म का वरण कर ले; पर यदि उसे किसी प्रकार के प्रलोभन के द्वारा, भय के द्वारा, अंधविश्वास या भ्रान्तियों के द्वारा धर्मच्युत किया जायगा, तो वह अधर्म है और इस अधर्म के विरुद्ध संघर्ष करना परम आवश्यक है।

आज जो भूल हमसे हुई है, हमने अपने देश के आदर्श को भूलकर धर्मनिरपेक्षता की बात कही । धर्मनिरपेक्षता अंग्रेजी के 'सेकुलर' शब्द का अनुवाद है । 'सेकुलर' का तात्पर्य वास्तव में धर्मनिरपेक्षता नही है, 'सेकुलर' का तात्पर्य धर्म के विरुद्ध है । धर्म का 'सेकुलर' से कोई सम्बन्ध नहीं है, हमारे देश में जो दस हजार वर्षों से धर्म की परंपरा चली आ रही थी, जिसने व्यक्ति को कहा था कि **धर्मो रक्षति रक्षितः** – धर्म अपने रक्षक की रक्षा करता है; अतः धर्ममय जीवन व्यतीत करो । उसको भूलकर हमने धर्मनिरपेक्षता के नाम पर धर्म की उपेक्षा की । देश में आज जो परिस्थिति दिख रही है, वह धर्म की उपेक्षा के कारण है । अतः हम भारतवासियों को आज पुनः विचार करना पड़ेगा कि देश की राजनैतिक स्वाधीनता के ५३ वर्ष बाद भी क्यो हमारी समस्याओं का समाधान नही हो पा रहा है । उसका एकमात्र उत्तर है कि हमने धर्म का सम्मान नही किया है । स्वामीजी ने बार बार बात कही है कि स्मरण रखो, यदि तुम्हें इस देश का कल्याण करना हो, तो धर्म के माध्यम से ही करना पड़ेगा । स्वामीजी ने अपने मद्रास के प्रसिद्ध व्याख्यान में कहा था – इस देश को आर्थिक और राजनैतिक विचारों से आप्लावित करने के पूर्व आध्यात्मिक तथा धार्मिक विचारों से आप्लावित करना होगा । तो हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि हमारे ऋषियों ने जो आदर्श हमारे सामने रखा है, उसे हमें अपने व्यक्तिगत जीवन तथा राष्ट्र के समक्ष रखना होगा । हमारे देश का आदर्श क्या है? श्रीरामकृष्ण संघ की स्थापना करते समय स्वामीजी ने उस वैदिक आदर्श को बड़े सरल संस्कृत शब्दों में हमारे समक्ष रखा – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च** – अपनी मुक्ति और जगत् का हित । भारतवर्ष मे जन्म लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति, जो वैदिक संस्कृति में विश्वास करता है, वेदान्त में विश्वास करता है, भारतीय संस्कृति मे विश्वास करता है, उसके जीवन का यही लक्ष्य है, यही कर्तव्य है – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च** । यही हमारा आदर्श है । हमारे जीवन का आदर्श भोग नहीं, बल्कि योग है । वह योग क्या है? इसी जीवन में, मृत्यु के पूर्व ही अपनी आत्मा की अनुभूति कर लेना, ईश्वर का दर्शन पा लेना – यही भारतीय राष्ट्र का आदर्श है । मोक्ष का यह आदर्श जब तक प्रत्येक भारतीय के सामने नही रखा जायेगा, तब तक आप इस देश से भ्रष्टाचार दूर नही कर सकते, अनाचार दूर नही कर सकते, अव्यवस्था को दूर नहीं कर सकते । यदि व्यक्ति के सामने मोक्ष का आदर्श न रखा जाय, तो पृथ्वी के किसी भी देश के सामने, चाहे या अनचाहे, भोग का आदर्श उपस्थित हो ही जायेगा । मोक्ष का आदर्श यदि नहीं है, तो मानव-प्रकृति उसे भोग की ओर ले जायेगी ।

इसलिए त्याग और सेवा – ये ही भारत के आदर्श हैं । स्वामीजी ने बताया कि सर्वप्रथम हमें अपने समक्ष मोक्ष का आदर्श रखना पड़ेगा । और उसके बाद – **जगत् हिताय च** – जगत् का हित । मोक्ष का आदर्श अनादि काल से हमारे देश में है और उसकी प्राप्ति के विभिन्न मार्ग हैं । अपनी मुक्ति के लिए तुम समाज से अलग होकर हिमालय में किसी गुफा या वन-कन्दराओं में जाकर साधना करके मुक्ति पा सकते हो । एक समय था जब लोग ऐसा करते थे । आज भी कुछ लोग, कदाचित् करोड़ों में कोई इसके योग्य हो । पर स्वामीजी ने अपने गुरुदेव से सीखा हुआ एक नवीन मार्ग हमारे सामने रखा । वन के वेदान्त को घर घर में लाने की बात उन्होंने अपने गुरुदेव से सीखी थी । गुरुदेव ने कहा था – शिवज्ञान से जीवसेवा करो । हर प्राणी उन्ही शिव का अवतार है । हमारे सामने जो जीव चल-फिर रहे हैं, उनकी सेवा के द्वारा हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं । स्वामीजी ने कहा कि यह मानव-देह ही ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ मंदिर है । इस मनुष्य में विराजमान ईश्वर की सेवा द्वारा अपनी मुक्ति का संधान करो । अपनी मुक्ति का मार्ग साधो । आज सेवा का यह आदर्श हमारे सामने नहीं है, इसी कारण इतना भ्रष्टाचार, इतना भोगवाद प्रबल हो रहा है । अपने ही राष्ट्र को क्षति पहुँचाकर, उसकी पीठ में छुरा भोंककर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के लिए हम तत्पर हैं । ऐसा क्यो? इसलिए कि आज मोक्ष का आदर्श नहीं, बल्कि भोग का आदर्श हमारे सामने है और चूँकि धन ही भोग का साधन है, इसलिए येन-केन-प्रकारेण धन कमाने के लिए, भोग की पूर्ति के लिए सम्पदा अर्जित करने के लिए हम गर्हित-से-गर्हित कर्म करने में भी हिचकते नहीं, संकोच नहीं करते ।

किस राजनीति के द्वारा, किस लोकसभा या विधानसभा के कानून द्वारा आप मनुष्य के चरित्र का निर्माण कर सकते हैं? क्या इस देश के कानून में ऐसी व्यवस्था नहीं है कि अन्यायी को दण्ड दिया जाय? क्या इस देश के कानून में ऐसी व्यवस्था नहीं है कि अनुचित उपाय से धन कमानेवालों को शासित किया जाय? खूब है, पर उसका क्रियान्वन नहीं हो पा रहा है । क्यों नहीं हो पा रहा है? इसलिए कि दंडविधान की व्यवस्था करनेवाले के समक्ष मोक्ष का आदर्श नहीं है । उसके सामने भी भोग का आदर्श है और भोग का आदर्श है, तो उसे भी धन-सम्पत्ति की आवश्यकता है, तो धन-सम्पत्ति के अर्जन में यदि कानून सहायता नहीं करता, तो उसकी ओर ध्यान न देने मे उसे कोई संकोच नहीं होता । इसलिए स्वामीजी की यह बात कि हमारा आदर्श मुक्ति या मोक्ष है । और इस मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है सेवा । कैसी सेवा करे? सेवा का एकमात्र उपाय है, एकमात्र मार्ग है – दूसरों के लिये जीना । अपने लिए सभी जीते हैं, पर जो दूसरों के लिए जीता है, उसी का जीवन धन्य है । स्वामीजी ने मैसूर के राजा को एक पत्र लिखा था । उसके अंतिम अंश में उन्होंने लिखा – प्रिय महाराज, जीवन क्षणभंगुर है, जीवन के ये भोग अस्थायी हैं; वे ही धन्य

हैं, जो दूसरों के लिए जीते है, बाकी लोग तो जीते हुए भी मुर्दे के समान हैं । आज देश की वही जीवन्मृत अवस्था हो गयी है और इसलिए हो गयी है कि स्वार्थ इतना प्रबल हो गया है कि हमारा ध्यान उस ओर नहीं जाता, अत: स्वामीजी ने हमें राजमार्ग दिखाया और वह यह है कि दूसरों के लिए जीयो । समाज में जो दुखी हैं, निर्धन हैं, उनकी सेवा करो । पहले के ऋषियों ने कहा था – **मातृदेवो भव, पितृदेव भव, आचार्यदेवो भव** । स्वामीजी ऋषि थे और ऋषि-परम्परा में उन्होंने हमें नया उपनिषद् देते हुए कहा – **दरिद्रदेवो भव, मूर्ख देवोभव, रुग्णदेवो भव** – गरीब को देवता समझो, मूर्ख को देवता समझो, रोगी को देवता समझो और देवता समझकर उसकी सेवा करो, उसकी उन्नति का उपाय करो । सेवा के लिये त्याग आवश्यक है । बिना त्याग के जीवन में कोई सेवा नहीं हो सकती । आज हमने त्याग के उस आदर्श को भुला दिया है और इसीलिए हमारे जीवन में सेवा का कोई स्थान नहीं रह गया है । स्वामीजी ने हमें बताया कि हमें सेवा का आदर्श अपने समक्ष रखना पड़ेगा । सेवा का आदर्श लेकर यदि हम चलेंगे, तो हमारा देश आज भी जगद्गुरु हो सकता है । प्रश्न यह है कि जीवन में सेवा देने का आदर्श स्वयं स्वीकार करना पड़ता है । हम सेवा लेने के अभ्यस्त हो गये हैं । जब सेवा लेने का प्रश्न आता है तो हम प्रथम पंक्ति में उपस्थित होते हैं, पर जब सेवा देने का प्रश्न आता है तो हमारी उपस्थिति वहाँ नहीं होती । इसलिए सेवा का व्रत जीवन में लेना पड़ेगा । सेवा कहाँ से प्रारम्भ करें? सेवा के लिए क्या हम प्रतीक्षा करें कि कहाँ भूकंप हो, कहाँ बाढ़ आये, कहाँ आग लगे, तब हम सेवा करने जाये! जहाँ जिस क्षेत्र में हम रहते हैं, जिस घर में हम रहते हैं, वहीं से सेवा प्रारम्भ की जा सकती है । सेवा की प्रथम शर्त है स्वार्थ-त्याग । स्वामीजी का एक छोटा-सा व्याख्यान है, ढाई पृष्ठ का है, जो उन्होंने रामेश्वर के मन्दिर में दिया था और उनके 'भारतीय व्याख्यान' पुस्तक में प्रकाशित हुआ है । उस व्याख्यान में स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्म क्या है? स्वामीजी कहते हैं सबसे बड़ा पाप यदि कुछ है, तो वह स्वार्थ है । इसलिए स्वामीजी ने कहा – स्वार्थ त्यागकर मनुष्य की सेवा करो । मनुष्य की सेवा द्वारा तुम्हारे हृदय में सोया हुआ परमात्मा जाग उठेगा, तुम्हारे हृदय में सोया हुआ शिव जाग उठेगा और तब तो तुम स्वयं शिवस्वरूप हो जाओगे; संसार में तुम्हारे लिये कुछ भी असम्भव नहीं रहेगा; तुम जीवन्मुक्ति का अनुभव कर सकोगे । सेवा का यह राजमार्ग स्वामी विवेकानन्द ने दिखाया ।

जब तक व्यक्ति अपने जीवन में मोक्ष और उसकी प्राप्ति हेतु सेवा का आदर्श स्वीकार नहीं करता, तब तक किसी कानून या व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति को बदला नहीं जा सकता । आप राजनैतिक व्यवस्थाएँ बदल सकते हैं, आर्थिक व्यवस्थाएँ बदल सकते हैं, समाज की रीतियाँ बदल सकते हैं, किन्तु मनुष्य को बिना इस आदर्श के नहीं बदला जा सकता है । जब तक व्यक्ति के चरित्र में परिवर्तन नहीं आयेगा, तब तक समाज के चरित्र में बदलाव नहीं आ सकता । हम व्यवस्था बदल सकते हैं, पर उससे व्यक्ति नहीं बदलता । व्यक्ति तो बदलता है धर्म के आचरण से, धर्म का आदर्श स्वीकार करके । चरित्र का आधार ही धर्म है । जब तक व्यक्ति के जीवन में चरित्र नहीं आयेगा, तब तक उसके जीवन में परिवर्तन आ नहीं सकता ।

स्वामीजी ने क्या बताया? आपका जीवन कैसा हो? आपका जीवन धर्मकेन्द्रित हो । आज समाज पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर दीख भी पड़ता है कि समाज का जीवन धर्म-केन्द्रित नहीं है । जब तक समाज का जीवन धर्मकेन्द्रित नहीं होगा, तब तक इस राष्ट्र का हित नहीं हो सकता । हमारे राष्ट्र की आत्मा ही धर्म है, अत: हमारे जीवन का केन्द्र धर्म हो ।

धर्म क्या है? धर्म है मनुष्य की सारी वृत्तियों को उस परमात्मा की ओर ले जाना । ईश्वर, अल्ला, गॉड, ब्रह्म, सगुण, निर्गुण, भगवान – जिस रूप में भी आप विश्वास करते हो, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु जीवन का आदर्श यह संसार न हो । धर्म का पालन ही जीवन का आदर्श हो । धर्म विश्वास करता है कि यह संसार धर्मक्षेत्र है, यहाँ धर्म का सम्यक् आचरण करने से मृत्यु के पश्चात् हम उस अनन्त अमर लोक में जायेंगे, जहाँ जाकर मनुष्य पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त हो जाता है, दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और परमानन्द की प्राप्ति होती है । किसी भी व्यक्ति का जीवन धर्म-केन्द्रित है या नहीं, ईश्वर-केन्द्रित है या नहीं, इसकी पहचान यह है कि जिस व्यक्ति का जीवन ईश्वर-केन्द्रित होगा, उसका जीवन लोकहितकारी होगा ही । व्यक्ति स्वभाव से **सर्वभूतहिते रतः** होगा । इसलिए सबके हित में लगा रहेगा कि वह हर व्यक्ति में अपने इष्ट के दर्शन करता है, अत: उसके जीवन का एकमात्र प्रयोजन यही हो जाता है कि जो भी उसके सम्पर्क में आये, वह उनकी सेवा करे, उनका दु:खलाघव तथा सुखवर्धन करे । यदि मैं अपने सम्पर्क मे आनेवाले हर व्यक्ति के दु:ख दूर करने का प्रयास कर रहा हूँ, तो मैं धार्मिक हूँ । हो सकता है मैं मन्दिर में, मस्जिद में, गिरिजाघर में या गुरुद्वारे में न जाता होऊँ, पर यदि मेरे जीवन का यह व्रत है कि प्रत्येक व्यक्ति जिसके साथ मेरा सम्पर्क होगा, उसका दु:ख मैं कैसे दूर कर सकता हूँ उसके सुख को मैं कैसे वर्धित कर सकता हूँ – यदि मेरी ऐसी वृत्ति है, तो मैं धार्मिक हूँ; किन्तु यदि मैं हर दिन मन्दिर में, मस्जिद में, गुरुद्वारे में या गिरजाघर में जाकर दस घंटे प्रार्थना करता हूँ, सभी धर्मग्रन्थों का अध्ययन करता हूँ, उन्हें कंठस्थ करता हूँ किन्तु यदि मेरा जीवन लोकहित के लिए नहीं है, मेरे जीवन के द्वारा लोक-कल्याण नहीं होता है, तो मैं अधार्मिक हूँ, नास्तिक हूँ । इसलिए स्वामीजी का धर्म

कहता है कि तुम्हारे सामने दीन, दुखी, दरिद्र आदि के रूप में जो परमात्मा हैं, उनकी सेवा करो । हमारा जीवन धर्मपरायण होना चाहिए । धर्म के बारे में जो कुछ हमने सुना है, हम उन पर विश्वास करते हैं क्या? हम जीवन मे उनका आचरण करते हैं क्या? हमारे आचरण के द्वारा हमारे जीवन में धर्म प्रतिष्ठित नहीं हो रहा है और यदि जीवन में केवल धर्म की चर्चा है और चर्या नहीं, तो हम अधार्मिक हैं । तब धर्म दम्भ हो जाता है । जीवन मे उसका आचरण आवश्यक है । अत: हमारा जीवन धर्म पर आधारित होना चाहिए । जीवन का व्यवहार कैसा हो? जीवन सेवापरायण हो, जिसने अपने जीवन का लक्ष्य मोक्ष निर्धारित कर लिया है, जिसने संकल्प कर लिया है कि मैं इसी जीवन मे मृत्यु के पूर्व अपने अन्त:करण में विराजमान परमात्मा का साक्षात्कार करूँगा, ऐसे व्यक्ति के जीवन मे पुष्प से सुगन्ध के समान सेवा अपने आप नि:स्रित होती है, सेवा के लिए उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता । ऐसे व्यक्ति का जीवन तथा व्यवहार सेवा-परायण होता है ।

आत्मनिरीक्षण करके देखना पड़ेगा कि हमारा जीवन-केन्द्र क्या है? क्या हमारा केन्द्र भोग है? क्या हमारा केन्द्र स्वार्थ है? यदि हमारे जीवन का केन्द्र स्वार्थ या भोग है, तो निश्चय जानो कि संसार के भोगियो की जो दुर्गति हुई है, वही दुर्गति हमारी भी होगी । हो सकता है कि रावण के समान शक्ति संग्रह करके व्यक्ति थोड़े दिन के लिये संसार के भोगो की चकाचौध से विश्व को मुग्ध कर दे, पर उसका परिणाम विनाश ही होगा । दुर्योधन की सत्ता अधिक दिन नहीं चल सकती । एक-न-एक दिन उसका विनाश अवश्य होगा । इसलिये जीवन में धर्म प्रतिष्ठित हो । धर्म के दूसरे एक अन्य बहुत बड़े आधार पर बल दिया है वह है कर्मवाद का सिद्धान्त । स्वामीजी ने कहा है – तुममें से प्रत्येक व्यक्ति आज जो है वह अपने कर्मों के कारण है, अत: अपने जीवन का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लो । आज आप हम जहाँ है, जैसे सुखी हैं, दुखी हैं, अच्छे हैं, बुरे है; इसके लिए संसार का कोई भी यहाँ तक की परमात्मा भी उत्तरदायी नही है, कोई देवता उत्तरदायी नहीं है; हम स्वयं और स्वयं ही उत्तरदायी हैं । आज हम जो भी हैं हमारे इस जन्म या गत जन्मो कर्मों के परिणामस्वरूप हैं । अत: स्वामीजी ने हमें राजमार्ग दिखाया । यदि मेरी मुक्ति नहीं हुई या मुझे पुन: जन्म लेना पड़ा, तो मेरा स्वरूप क्या होगा? मेरी स्थिति क्या होगी? वर्तमान मे मेरे द्वारा किये गये कर्मो का परिणाम मेरा भविष्य का जीवन होगा । इसलिए स्वामीजी ने कहा – सावधान हो जाओ; तुम क्या होना चाहते हो? भविष्य मे क्या बनना चाहते हो? इस जीवन में जितने वर्ष शेष हैं, उनमे तुम क्या होना चाहते हो? इसकी स्पष्ट धारणा करने के पश्चात् उस प्रकार के कर्म में लग जाओ, कमर बाँधकर लग जाओ । आज भारत इस कर्मवाद को भूल गया है, कर्मवाद को भूलने के कारण हम अनुचित उपायों से धन-सम्पत्ति संग्रह करके संसार का भोग करना चाहते है – **ईहन्ते काम-भोगर्थं अन्यायेन अर्थसंचयान्** । हमें याद रखना होगा कि हमें अपने प्रत्येक कर्म का रत्ती रत्ती का हिसाब देना पड़ेगा । मेरे कर्मों के लिये मेरे सिवा कोई व्यक्ति उत्तरदायी नहीं है । अत: मुझे ही उसका परिणाम भोगना पड़ेगा । शुभ हो, अशुभ हो, उसको भोगने की तैयारी मुझे ही रखनी पड़ेगी । अत: स्वामीजी ने कहा – हम स्वयं हमारे भाग्य के निर्माता हैं । अपने कर्मो के द्वारा हम अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं । किन्तु यदि दुर्भाग्य से कुबुद्धि आयी, तो अपने कर्मो के द्वारा हम न केवल इस जीवन, अपितु भावी जीवन का भी विनाश कर डालते हैं । अत: सावधान रहना चाहिए, कर्मवाद के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना चाहिए, यह जानना चाहिए कि जो कुछ हम कर रहे हैं, उसका फल होगा और अवश्य होगा ।

इस कर्मवाद का जो दूसरा पक्ष है और स्वामीजी ने जिस पर बहुत जोर दिया है, वह है पुनर्जन्म की बात । हम इसे भूल जाते है । हमें स्मरण रखना चाहिए । विज्ञान ने इसे सिद्ध कर दिया है कि शून्य से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती । हमारे जन्म के पूर्व हमारा अस्तित्व था और यदि मुक्ति नहीं हुई, तो मृत्यु के पश्चात् भी अस्तित्व रहेगा । और मुक्ति हो गई तो चिर अस्तित्व रहेगा । जन्म के पूर्व अव्यक्त रूप में हमारा अस्तित्व था, मृत्यु के बाद भी अव्यक्त रूप में हमारा अस्तित्व रहेगा । पर यह अव्यक्त स्वरूप निष्क्रिय नहीं है, अपने कर्मों का फल वहाँ भी हमे भोगना पड़ता है । इसलिए यह विश्वास रखना चाहिए कि यह जीवन का सत्य है । शास्त्रों की बातों पर विश्वास करना चाहिए । जब तक हम अपने अन्त:करण में आत्मा और ब्रह्म की एकता का अनुभव नही करते या अपने इष्ट का साक्षात्कार करके उनमें विलीन नहीं हो जाते, तब तक बार बार जन्म लेना पड़ेगा – **पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननीजठरे शयनम्** – बार बार आना पड़ेगा । इस पुनर्जन्म के चक्र से बचने का एकमात्र उपाय है – शुभ कर्मों का द्वारा चित्त शुद्ध करना । एक भी इच्छा अगर हमारे मन में रही, तो पुन: जन्म होगा और जब जन्म होगा ही, तो क्यों न ऐसा प्रयत्न करे कि ऐसा शुभ जन्म हो कि अगले जन्म में बाल्यावस्था से ही हम शुभ कर्म की ओर जायँ । किन्तु इस पुनर्जन्म से बचने का भी उपाय स्वामीजी ने हमें बताया है – दूसरो के लिए जियो । जब व्यक्ति के पास अपना कुछ नहीं बचता, जब वह पूर्णत: नि:स्वार्थ हो जाता है, उसके जीवन से स्वार्थ की गंध तक चली जाती है, तब उसके हृदय में सोया हुआ परमात्मा जाग उठता है और जब वह परमात्मा जागता है, तो व्यक्ति का जीवन **सर्वभूतहिते रत:** हो जाता है । उसके सम्पर्क में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति पवित्रता और तृप्ति का अनुभव करता है । इतना ही नहीं, उसे स्वयं भी अपने जीवन

में परम तृप्ति की प्राप्ति होती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त वेदान्त का एक मौलिक सिद्धान्त है। पुनर्जन्म इसलिए होता है कि परमात्मा या प्रकृति हमें पुनः पुनः सुअवसर देती है कि हम इस नये जन्म के द्वारा जन्म-मरण के चक्र से छूटने का प्रयत्न करे, इसी जीवन में मृत्यु के पूर्व मृत्युंजय हो जायँ, मृत्यु को जीत लें। इसलिए मनुष्य जीवन हमें दिया गया एक सुअवसर है। मनुष्य की योनि सर्वश्रेष्ठ योनि है। इसी योनि में मनुष्य अपने हृदय में बैठे हुए परमात्मा का साक्षात्कार करके जीवन्मुक्त हो सकता है। जीवन्मुक्त होकर व्यक्ति न केवल स्वयं सभी दु:खों से मुक्त हो जाता है, बल्कि अपने सम्पर्क में आनेवाले सहस्रों व्यक्तियों को भी दु:खमुक्त कर देता है। जीवन का इससे अच्छा कोई सदुपयोग हो नहीं सकता? मानव जीवन का इससे बड़ा कोई आदर्श हो सकता है? यही भारतीय जीवन का आदर्श है। यही भारत का प्राण है। यही भारत का विश्व को संदेश है, किन्तु विश्व को संदेश देने के पूर्व हम भारतवासियों को अपने व्यक्तिगत जीवन में यह आदर्श रूपायित करना होगा। इस आदर्श के अनुसार अपने जीवन की योजना करनी होगी, रचना करनी होगी और यह संकल्प लेना होगा, यह व्रत लेना होगा कि मैं अपने जीवन में ऐसा कोई आचरण नहीं करूँगा, जो धर्म-विरुद्ध हो, जो आध्यात्मिकता के विरुद्ध हो, जो अनैतिक हो, जो अधार्मिक हो। आप इस प्रकार का संकल्प लें – यही प्रभु के चरणों में प्रार्थना करता हूँ। ❖

बेलगाँव में रामकृष्ण मठ का नया कैन्द्र

परिव्राजक के रूप में १८९२ ई. में पूरे भारत का भ्रमण करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने १५ से २७ अक्तूबर तक के १२ दिन उत्तरी कर्नाटक के इस बेलगाँव नामक नगर में बिताये थे। वहाँ पर सर्वप्रथम वे श्री भाटे के घर में ठहरे और तदुपरान्त वहाँ के उप-सम्भागीय वन-अधिकारी श्री हरिपद मित्र के घर चले गये। जिस मकान में स्वामीजी ५ दिन ठहरे थे, उसका भवन तथा उससे लगी हुई भूमि वन विभाग की सम्पत्ति है।

रामकृष्ण संघ के वर्तमान परमाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने कर्नाटक के मुख्यमंत्री श्री एस. एम. कृष्णा को, स्वामी विवेकानन्द की पुनीत स्मृतियों से जुड़े इस परिसर में रामकृष्ण मिशन का एक केन्द्र बनाने का एक प्रस्ताव भेजा, तो वे तत्काल सहमत हो गये।

तदनुसार १ जून को यह भवन तथा उससे संलग्न भूमि रामकृष्ण मिशन को सौंप दी गयी और उसी दिन इस उपलक्ष्य में वहाँ एक विशेष कार्यक्रम आयोजित हुआ, जिसमें अनेक सन्यासियों, अधिकारियों तथा आम जनता ने भाग लिया। ❑

विवेकानन्द मानवीय उत्कृष्टता संस्थान

विगत १० सितम्बर को प्रातः ८ बजे हैदराबाद स्थित रामकृष्ण मठ में नवनिर्मित 'विवेकानन्द मानवीय उत्कृष्टता सस्थान' का उद्घाटन, संघ के परमाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रगनाथानन्द जी महाराज के कर-कमलों से सम्पन्न हुआ। इन अवसर पर अनेक सन्यासी, भक्त तथा अनुरागी उपस्थित थे।

उसी दिन शाम को ५.३० बजे सघ के महासचिव श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्द जी की अध्यक्षता में एक आमसभा का भी आयोजन किया गया था। इस सभा में आंध्रप्रदेश के मुख्य मत्री श्री एन. चन्द्रबाबू नायडू, लोकसभा के अध्यक्ष श्री जी.एम.सी. बालयोगी सम्माननीय अतिथि थे। सभा के बाद सुप्रसिद्ध सरोदवादक उस्ताद अमज़द अली खान ने अपनी कला का प्रदर्शन करके श्रोताओं को मत्रमुग्ध कर लिया।

११ से १७ तक सप्ताह भर चलनेवाले इस कार्यक्रम के दौरान चार सम्मेलन भी आयोजित किये गये थे। दिनाक ११ को महिलाओं तथा शिक्षकों के, १३ को युवकों का और १४ को चिकित्सकों का सम्मेलन आयोजित हुए थे। १७ को पूरे दिन भर का एक विशेष आध्यात्मिक शिविर भी आयोजित किया गया था, जिसमें लगभग १००० भक्तों ने भाग लिया।

१७ सितम्बर की शाम को ५.३० बजे को उत्सव का समापन हुआ। इस पूरे सप्ताह के दौरान प्रतिदिन शाम को विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया गया था; जिनमें प्रमुख थे रामकृष्ण सघ के विद्वान् संन्यासियों तथा अन्य प्रमुख वक्ताओं द्वारा तेलुगु तथा अंग्रेजी में व्याख्यान व प्रवचन और स्वामी पुरुषोत्तमानन्द, राजकुमार भारती, जे. दत्तात्रेय, एन. शिवप्रसाद जैसे विख्यात सगीतज्ञों के भजन तथा सगीत के कार्यक्रम। ❖ ❖ ❖